यशपाल और उनकी 'दिव्या'

(उपन्यासकार यशपाल कृत दिव्या का सर्वांगीण समीक्षात्मक अध्ययन)

लेखक

प्रो० भूषण स्वामी एम. ए., साहित्यरत्न

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

दिल्ली-६ : : पटना-४

कामरेड यशपाल क्रान्तिकारी लेखक हैं। इनकी 'दिव्या' का उपन्यास-साहित्य मे सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इसी कारण कई विश्वविद्यालयो ने इनके उपन्यास 'दिव्या' को उच्च कक्षाओ के पाठ्य-क्रम मे स्थान दे रखा है। प्रस्तुत पुस्तक छात्रो के लिए लिखी गई है। 'दिव्या' के अध्ययन को सरल और सुबोध बनाने के लिए प्रश्न-उत्तर शैली अपनायी गयी है। 'दिव्या' से सम्बन्धित सभी विभिन्न विद्वानो के मतों का समावेश यहां करने का प्रयत्न किया गया है। यशपाल का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, दिव्या की संक्षिप्त कथावस्तु, दिव्या की ऐतिहासिकता, प्रमुख पात्रो का चरित्र-चित्रण, दिव्या की भाषा-शैली और दिव्या का प्रतिपाद्य पर पर्याप्त सामग्री इसमें प्रस्तुत की गई है। अन्त मे प्रमुख गद्यांशों की व्याख्या भी दे दी गई है।

आशा है छात्र-छात्राओ को हमारा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा। उन विद्वानो का भी मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनकी रचनाओ से जाने-अनजाने मे सहायता ली है।

२६ जनवरी, १९७३

—भूषण 'स्वामी'

प्रश्न-सूची

O

प्रश्न १—यशपाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

श्री यशपाल का जन्म ३ दिसम्बर सन् १९०३ ई० को फीरोजपुर छावनी के एक खत्री परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम हीरालाल था जो सूद पर रुपया उधार दिया करते थे और लाला के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी माता का नाम प्रेमवती था जो एक अनाथालय में अध्यापिका थी। डॉ० सरोज गुप्त के अनुसार—"यशपाल की माता सहनशील, परिश्रमी एवं साहसी स्त्री थी। वे स्वयं साधन सम्पन्न कुल की सन्तान थीं। उनके पूर्वज चामचौरासी के राजाओं के राजमन्त्री थे। विवाह के समय माता तथा पिता की आयु में पर्याप्त अन्तर था। प्रौढ़ावस्था में विवाह होने के कारण पति-पत्नी अधिक दिन साथ न रह सके। पति की मृत्यु के पश्चात् यशपाल और धर्मपाल दोनों पुत्रों का पोषण इनकी माता ने किया। उन्होंने अनेक कष्ट सहन करके तथा अपने कठिन परिश्रम के बल पर ही दोनों पुत्रों को उच्च शिक्षा दिलवाई। उन दिनों आर्य समाज का जोर था। इनकी माता आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित थी। अतः यशपाल की प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई। गुरुकुल का सख्त अनुशासन उन्हें दमघोंट प्रतीत हुआ और सातवीं कक्षा तक ही वहाँ पढ़ सके। फीरोजपुर छावनी के सरकारी स्कूल से मिडिल परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। अपनी पढ़ाई का खर्च चलाने के लिए वे ट्यूशन भी किया करते थे। इस समय वे क्रान्तिकारी कार्यों में भी भाग लेने लगे थे। मैट्रिक की परीक्षा भी इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की। पंजाब विश्वविद्यालय से प्रभाकर तथा १९२५ में नेशनल कॉलेज से बी० ए० की परीक्षा पास की।

नेशनल कालेज में यशपाल, सरदार भगतसिंह, सुखदेव और भगवतीचरण बोहरा आदि क्रान्तिकारी भावना वाले नवयुवकों के सम्पर्क में आए। उन्हें अपने इतिहास-शिक्षक प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार से इस दिशा में विशेष प्रेरणा मिली। उन्होंने बम बनाना सीख लिया तथा अन्य साथियों को भी उसकी शिक्षा देते थे। इनकी लाहौरी की बम-फैक्टरी का पता पुलिस को लग गया और

इनकी गिरफ्तारी का वारंट हो गया। यशपाल को गिरफ्तार कराने वाले के लिए पुरस्कार को वही राशि तीन हजार घोषित की गई। यशपाल ने दिसम्बर १६२६ में वायसराय लार्ड इर्विन के डिब्बे को बम से उड़ा देने के साहसपूर्ण षड्यन्त्र में प्रमुख भूमिका अदा की थी किन्तु कोहरे के कारण बटन दबाने के उचित समय का ज्ञान न हो पाने के कारण यह प्रयत्न विफल हो गया था। इसी समय इनका सम्पर्क श्री प्रकाशवती कपूर से हुआ। जो क्रान्तिकारी दल की सदस्या थी। यही प्रेम-सम्पर्क आगे विवाह-सम्पर्क में बदल गया। १६३२ में यशपाल इलाहाबाद में गिरफ्तार कर लिए गये और इन्हें चौदह वर्ष के कारावास की सजा मिली। कारावास के समय में ही डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की अनुमति से यशपाल जी का विवाह प्रकाशवती जी से ७ अगस्त १६३६ को हुआ था। गिरते स्वास्थ्य के कारण इनको १६३८ में रिहा कर दिया गया। जेल से रिहा तो कर दिया गया लेकिन इनके पंजाब-प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। उन्होंने लखनऊ में एक साप्ताहिक में ७५ रुपये माहवार की नौकरी कर ली, वहाँ पर ये न निभ सके। फिर इन्होंने माँ की धरोहर के तीन सौ रुपये लेकर प्रकाशवती की सहायता से 'विप्लव' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। विप्लव में यशपाल की कहानियाँ निकलती थीं। १६४१ में सरकार द्वारा इनके पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया तब इन्होंने लैम्पों के शेड और चमड़े की गद्दियाँ बनाकर फेरी लगा-लगाकर बेची और जीवन-निर्वाह किया। प्रकाशवती ने दन्त चिकित्सा का कार्य किया। सन् १६४३ में आपका प्रेस पुनः चालू हो गया और इनका 'देश द्रोही' उपन्यास प्रकाशित हुआ। सम्प्रति के एक आधुनिकतम साज-सज्जाओं से युक्त विशाल भवन तथा प्रेस के स्वामी हैं। डॉ० सरोज गुप्त के शब्दों में—"यशपाल जी के वर्तमान जीवन के रहन-सहन और प्रारम्भिक जीवन के रहन-सहन में बहुत अन्तर है। आज जिस स्तर पर वे पहुँच गए हैं उसे देखकर यह अनुमान लगाना बहुत कठिन है कि इस व्यक्ति ने इतने संघर्षों का सामना किया होगा।" लखनऊ में २१ शिवाजी मार्ग का विप्लव कार्यालय तथा साथी प्रेस है तथा रहने के लिए भव्य

कोठी लखनऊ की आधुनिकतम कॉलोनी ३३५ बी महानगर में बनाई हुई है।

विश्व-शान्ति-कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए यशपाल जी आस्ट्रिया, स्विटजरलैंड, रूस और इंगलैंड की पाँच-छह बार यात्रा कर चुके हैं। लेखक-कांग्रेस-संघ की ओर से आप चैकोस्लोवाकिया, जर्मनी और रूमानिया भी हो आए हैं। १९६४ में प्रोस्टेट-ग्लैंड्स का ऑपरेशन आपने रूस में कराया था। मार्क्सवादी विचारों से आप खूब प्रभावित हैं। उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रतिपादन आपने अपनी कृतियों द्वारा किया है।

रहन-सहन में यशपाल शान-शौकत के हामी हैं। साहबी लिबास में रहना प्रतिदिन शेव करना और साहित्य की सर्जना करना—यही उनका अब सुव्यवस्थित और नियमित जीवन है। आप आर्यसमाजी होते हुए भी सामिष भोजन से परहेज नहीं करते। उसका औचित्य वह यह कहकर करते हैं कि वेदों में मांस-मछली का निषेध नहीं है। उन्हें अपने पुत्र और पुत्री को अपने साथ सुरा पिलाने में हिचक नहीं होती। *अन्य व्यक्तियों के सामने भी अपने आत्मज नन्दू' को सिगरेट और बीयर आदि देने में* संकोच नहीं करते। आप नारी-स्वतन्त्रता के हामी हैं। गो-दान की तरह वह कन्यादान को उचित नहीं समझते। पुत्री गाय नहीं है इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री का कन्यादान नहीं किया।

यशपाल कलम के धनी साहित्यकार हैं। उन्होंने लेखन को व्यवसाय के रूप में अपना रखा है। अब तक इनके पन्द्रह कहानी-संग्रह, नौ निबन्ध-संग्रह, एक नाटक, एक आत्मकथात्मक संस्मरण, तीन अनूदित तथा नौ मौलिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—

कहानी-संग्रह—१ पिंजरे की उड़ान, २ वो दुनिया, ३ ज्ञानदान, ४. अभिशप्त, ५. तर्क का तूफान, ६ भस्मावृत चिनगारी, ७ फूलों का कुर्ता, ८. धर्म युद्ध, ९ उत्तराधिकारी, १० चित्र का शीर्षक, ११ तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ, १२. उत्तमी की माँ, १३. ओ भैरवी, १४ सच बोलने की भूल और १५. खच्चर और आदमी।

तभी मद्र की सीमा पर केन्द्रस का आक्रमण हुआ। सैन्य-शक्ति की विशृङ्खलता और उत्साह के अभाव मे मद्र-सेना पराजित हुई। प्रेस्य की दूरदर्शिता के गण परिषद् और धर्मास्थान द्वारा उपेक्षित पृथुसेन को अपने पौरुष और युद्ध-कौशल प्रदर्शन का शुभवसर मिला। युद्ध मे जाने से पूर्व पृथुसेन मल्लिका-प्रमाद मे दिव्या से मिला। मन के आवेग ने तन की सीमाएँ तोड़ दीं। वासना के ज्वालामुखी ने जाति, धर्म, समाज और वंश-परम्परा की दीवारो को जड से हिला दिया और कुमारी दिव्या को मातृत्व का अभिशापमय वरदान दे पृथुसेन युद्ध के लिये विदा हुआ।

दिव्या की मिट्टी में वासना का पौधा पनपने लगा। दुश्चिन्ताओं ने उसे घेर लिया। अपने शरीर मे आये परिवर्तन के कारण दिव्या घर से नहीं निकलती थीं और अन्तर्मन के पृथुसेन को पुकारती रहती—आर्य, अपनी दिव्या और इसके शरीर में सौंपे अंश की सुधि लेने के लिए शीघ्र आओ। "पृथुसेन घायल हो विजयश्री, दास-दासी, द्रव्य आदि ले सागल लौटा पर दिव्या से उसका साक्षात्कार और विचार विनिमय नही हो सका। प्रेस्य के सुझाव के अनुसार पृथुसेन गणपति मिथोद्रस की पौत्री सीरो को अपनी जीवन-संगिनी बनाने के लिए प्रस्तुत हो गया किन्तु सीरो के विरोध और पिता की इच्छा के विरुद्ध पृथुसेन दिव्या को नहीं अपना सका।

अन्धकार का पाप प्रकाश मे आने के लिए शीघ्रता कर रहा था, इसलिये गर्भवती कुमारी दिव्या अपने को पृथुसेन द्वारा अस्वीकृत समझ, वंश, कुल और परिवार की प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए, समाज मे ठोकरें खाने के लिए चुपचाप निकल पडी। एक वृद्धा के कुचक्र मे फँसकर वह दास व्यवसायी ... के बन्धन मे पड़ी तथा काश्मीरी दासी 'दारा' के रूप मे मथुरा के ... भूधर द्वारा बीस स्वर्ण मुद्रा में खरीदी गई। प्रसव के उपरान्त पुरोहित ने दारा को दूध देने वाली गाय की तरह पचास स्वर्ण मुद्रा ... से मोल ले ली, जहाँ वह अपने पुत्र को छोड चक्रधर के पुत्र को स्तन-... के लिए विवश की जाती थी। एक बार चक्रधर ने उससे उसके

पुत्र को छीनना चाहा। ममता की छाती पर यह प्राणघातक प्रहार था, अतः संत्रस्त और सन्तप्त दिव्या अपने पुत्र शाकुल सहित संघ की शरण में आई। संघ से उपेक्षित हो उसने जीवन का खेल खेला और चक्रधर द्वारा पकड़ी जाने के भय से पुत्र सहित यमुना में कूद पड़ी। शाकुल की मृत्यु हुई। मथुरा के धर्मरक्षक रवि शर्मा के न्याय-विधान से वह दासीत्व से मुक्त हो शूरसेन की जनपदकल्याणी, राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा के संरक्षण में आई और दारा दासी से 'अंशुमाला' बन गई।

इधर सागल में सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन को समाज में अपमानित करने के लिए तथा धर्मास्थान की न्याय व्यवस्था को चुनौती देने के अपराध में रुद्रधीर को तात धर्मस्थ ने दो सहस्र दिवसों के देश निष्कासन का दण्ड दिया। इसी निष्कासन-काल में मथुरा का जनपद कल्याणी देवी रत्नप्रभा के यहाँ रुद्रधीर की दिव्या से भेंट हुई और उन्होंने कुल महादेवी के पद पर अधिष्ठित कर उसे स्वयं अंगीकृत करने की कामना प्रकट की, किन्तु दिव्या ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

देश-निष्कासन की अवधि समाप्त कर रुद्रधीर सागल लौटा और उसने सुअवसर पा एक षड्यन्त्र द्वारा प्रेस्थ और पृथुसेन का अधिकार और प्रभुत्व समाप्त कर दास वंश के स्थान पर सागल में ब्राह्मण वंश का वर्चस्व स्थापित किया। पराजित पृथुसेन ने बौद्धभिक्षु बन अपने प्राण बचाये।

सागल की जनपदकल्याणी देवी मल्लिका ने अपनी उत्तराधिकारिणी की खोज में अपनी शिष्या रत्नप्रभा से दिव्या को 'अंशुमाला' के रूप में प्राप्त किया, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की विकाल मरय परम्परा के विरोध में ब्राह्मण वंश-जात दिव्या वेश्या के स्वरूप में जनपद कल्याणी के पद पर प्रतिष्ठित न हो सकी।

दिव्या जनपदकल्याणी न बन सकने पर पान्थशाला में चली गई। आचार्य रुद्रधीर उसे कुल महादेवी बनाने के लिए पान्थशाला में पधारे। दिव्या ने वर्णाश्रम व्यवस्था को तिलांजलि देते हुए कहा—दासी हीन होकर भी दासम,

निमर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी। उसने कुलवधू के रूप में भोग्या और अस्तित्वहीन बनकर जीने की अपेक्षा नारी-स्वातन्त्र्य का समर्थन कर वर्णाश्रम व्यवस्था पर आक्षेप किया। जीवन के कटु अनुभव की दुखद स्मृति से भिक्षु पृथुसेन के द्वारा किये गये त्रिशरण के प्रस्ताव को भी उसने ठुकरा दिया और अन्त में पुरुषत्व के बदले नारीत्व प्रदान कर दिव्या ने अदिव्या रूप में चार्वाक नास्तिक मारिश को अपना जीवनसाथी चुना। ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था और बौद्ध धर्म की निस्सारता पर इस प्रकार आक्षेप कर दिव्या का कथानक समाप्त हो जाता है।

प्रश्न ३—यशपाल से पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य पर एक दृष्टि डालिए।

देश की राजनैतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था से बीच सर्वप्रथम जब लाला निवासदास का 'परीक्षा गुरु' प्रकाशित हुआ तब यह आशा की जाती थी कि साहित्य की यह धारा आगे चलकर जीवन को अत्यन्त निकट से देखेगी। १८५७ के विद्रोह के बाद सामन्तीय व्यवस्था अपना दम तोड रही थी और उसके स्थान पर नवीन पूँजीवादी अव्यवस्था जो सम्भवतः प्रथम से अधिक भयंकर थी आ रही थी, शोषण चल रहा था। कतिपय देशभक्त इसे स्वीकार न कर सके। उन्होने अत्याचार के विरुद्ध वाणी को मुखरित किया और साहित्य को राजनैतिक और सामाजिक चेतना का माध्यम बना उसके उत्थान मे लीन हो गये। साहित्य तत्कालीन परिवर्तित अवस्थाओं तथा बदले हुए दृष्टिकोण को सजग करता हुआ आगे प्रशस्त पथ पर अग्रसर हो रहा था। 'परीक्षा गुरु' मे सर्वप्रथम उस हृदय की कसक का मचलता आभास पाया गया जिसके बीज कुछ वर्षों पहले बोये जा चुके थे।

'परीक्षा गुरु' से पूर्व जनता के मनोरंजन का साधन जादू टोना तथा अरब की गाथाएँ थी। सामान्य जनता वास्तविक साहित्य से दूर थी। आवश्यकता थी ऐसे साहित्य की जो उसकी सोई हुई मनोवृत्तियों को जगा सके जिनसे उसकी शिराओं मे जोश उत्पन्न हो जाए और 'परीक्षा गुरु' ने इस रूप मे कुछ आवश्यकताओं को पूरा किया। लेखक ने सर्वप्रथम नायक-नायिकाओं के पिटे हुए कथानकों को न लेकर जीवन स्पन्दित वाणी को भी मुखरित किया जो न जाने कौन-सी अज्ञात चेतना मे मूर्च्छित थी।

सामाजिक उपन्यास

परीक्षा गुरु से सामाजिक उपन्यासों की परम्परा आगे विकासशील रही और पं० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास एवं श्री लज्जाराम शर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

१८८६ में भट्ट जी का 'नूतन ब्रह्मचारी' प्रकाश में आया जिसमें दुर्भावनाओं पर सद्भावना की विजय का प्रशंसनीय चित्र है। 'सौ अजान एक सुजान' भी इसी क्षेत्र में एक प्रगतिशील कदम था। इसके आगे १८९० में राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' प्रकाशित हुआ, जिसका मूल विषय गोवध निवारण है इसका कथा शिल्प अत्यन्त अस्त-व्यस्त है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय जी का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' भी सामाजिक समस्याओं पर आधारित उपन्यास था। श्री लज्जाराम शर्मा ने 'बिगड़े का सुधार' 'आदर्श हिन्दू' नामक कई सामाजिक उपन्यास तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं पर लिखे। यह परम्परा आगे ही आगे प्रगति करती रही।

अन्य प्रवृत्ति

लेकिन इसके साथ अन्य प्रवृत्तियों को साथ लिये भी उपन्यास परम्परा में विकास हुआ। श्री देवकीनन्दन खत्री, श्री किशोरीलाल गोस्वामी जी और श्री गोपालरामजी गहमरी आदि ने अन्य धाराओं का सूत्रपात किया जो इस प्रकार हैं—

(१) तिलस्मी धारा—श्री देवकीनन्दन खत्री।

(२) सामाजिक, ऐतिहासिक और रोमास की धारा—श्री किशोरीलाल गोस्वामी।

(३) जासूसी धारा—श्री गोपालराम गहमरी जी।

खत्री जी को मनोरंजन प्रधान रचना के कारण अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और हिन्दी का विकास हुआ। ऐयारी तथा प्रेम के दाँव-पेंचों से परिपूर्ण इन उपन्यासों के पढ़ने के लिये अधिकाश लोगों ने हिन्दी पढ़ी। इस प्रकार के उपन्यासों में भी एक मूल भावना कार्य कर रही थी—सत्य की असत्य के

कार विजय। इनमें उन्मादसंयुक्त प्रेम की विजय ही अन्त में होती है। उद्देश्य के मूल में स्वयं शर्मा जी के विचार हैं कि उपन्यास "कुतूहलवर्धक" है। आगे यह परम्परा न पनप सकी।

जासूसी धारा के प्रवर्तक श्री गहमरी जी ने बंगला तथा अंग्रेजी के उपन्यासों से प्रेरणा ली और उसका बाहुल्य हिन्दी में किया और विषमताओं तथा उलझनों से पूर्ण जीवन में लोग रुचि रखने लगे। इनसे उपन्यास अति प्रसिद्ध हुए। इनका उद्देश्य भी कौतूहलवर्धन था।

श्री गोस्वामी जी ने सामाजिक रोमांस की धारा का प्रचलन किया। प्रेम के क्षेत्र में व्यापक दृष्टि का परिचय दिया और कतिपय समस्याओं का मौलिक प्रवेश भी कराया। आपके ये सब उपन्यास घटनाप्रधान उपन्यासों के अतिरिक्त और कोई प्रधानता न पा सके। कथा विधान में गोस्वामी जी ने अपने परिश्रम का स्पष्ट आभास दिया है, यद्यपि कई उपकथाएँ कुछ अस्वाभाविक-सी जान पड़ती हैं, किन्तु लेखक की आदर्शवादिता विचारणीय है। 'हृदय हारिणी', 'कुसुमकुमारी', 'मुक्तावंरी', 'कटे मूड़ की दो-दो बातें' (जासूसी) उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं। सामाजिक उपन्यासों में आपका कथा-विधान अधिक सफल रहा, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों की ओर वे जान-बूझकर उदासीन रहे। कहीं-कहीं ऐसी कथाएँ भी आ जाती हैं जो इतिहास से बिलकुल न्याय नहीं करती। फिर भी गोस्वामी जी का महत्त्व तो अक्षुण्ण है ही।

इसके साथ-साथ ब्रजनन्दन सहाय जी के भावात्मक उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी जी के विचार में इन भावात्मक उपन्यासों में गीति काव्यत्व की प्रधानता लक्षित होती है।

अनुवाद-युग

इसके बाद अनुवादों का युग प्रारम्भ होता है और प्रेमचन्द के पूर्व इन अनुवादों ने ही उपन्यास साहित्य की वृद्धि की। श्री गंगाधर जी ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया। प्रताप नारायण मिश्र ने भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया। उपाध्याय जी ने "Merchant of Venice" का

अनुवाद किया। बंकिम तथा शरत और रवि के साहित्य का अधिक रूप से अनुवाद हुआ, लेकिन इस युग के आगे लेखक केवल कल्पित संसार या रूमानी जगत तक ही सीमित न रहा, बल्कि उसने जमाने की बदलती करवट को देखा और स्वयं भी उसी ओर बढ़ा। वह संघर्षों में प्रवेश कर समाज के हित-साधन का विचार करने लगा। स्वभावतः अब साहित्य में यथार्थ के दर्शन हुए। प्रेमचन्द जी इस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और उन्होंने साहित्य को नई मान्यताएं दीं।

प्रेमचन्द-युग

यद्यपि प्रेमचन्द से पूर्व भारतेन्दु ने साहित्य का जीवन जगत से सुन्दर तथा निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर दिया था, लेकिन वे उपन्यासों के क्षेत्र में अधिक सफल न हो सके। यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों में व्यापक जीवन के स्पंदन को मुखरित अवश्य किया। प्रेमचन्द ने भारतेन्दु के इस बीज-वपन को सार्थक सिद्ध किया और इस सड़े-गले समाज की चेतना को ऊर्ध्वोन्मुख बनाया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कलाकार वही है जो अपनी धड़कनों को समाज की धड़कनों के साथ मिलावे। इसीलिए प्रेमचन्द ने समाज के दुःख दर्द को वाणी दी, दलित मानवता की तरनी के वे कुशल केवट बने। उस उलझनमयी अवस्था में साहित्य में प्रेमचन्द का युगावतार हुआ। प्रेमचन्द जी की सूक्ष्म दृष्टि जीवन के प्रत्येक भाग पर दौड़ी और गरीब, अमीर, मूर्ख तथा अधिक पेट भरे सभी का आवश्यकतानुसार चित्रण किया है। मानवता की दरिद्रता के क्या कारण हैं, सभी का उन्होंने उत्तर दिया। वास्तव में प्रेमचन्द संघर्ष और मौन क्रांति के सजग कलाकार हैं, लेकिन उनकी क्रांति केवल मौन ही नहीं, वह ज्वालामुखी के समान अनेक बार दलित भावनाओं का विध्वंस कर आत्मसात् करने निकली। सुधारक और कलाकार प्रेमचन्द दोनों में ही हमें समाजोद्धार की ज्वलन्त और तीव्र भावना मिलती है। उनका आदर्श और यथार्थ दोनों ही जीवन् गति के दो छोर हैं जिन्होंने हर पहलू में मानवता की रक्षा की है। 'सेवासदन' की अमूल्य भेंट देने वाले लेखक ने 'गोदान' में यथार्थ

का रूप चित्रित कर अन्तिम आहुति दी। प्रेमचन्द जी ने 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन' आदि महत्वपूर्ण उपन्यास दिए।

प्रेमचन्द की विशेषता इस विषय में अधिक है कि उन्होंने अस्वाभाविक और काल्पनिक दुनिया से उपन्यासकार को बाहर लाकर जीवन के निकट प्रतिष्ठित किया। इनमें हम उस समय के राजनीतिक-सामाजिक जीवन की उथल-पुथल देखते हैं।

प्रसाद जी भी प्रेमचन्द के समकालीन थे। नाटककार और कवि के रूप के अतिरिक्त उनका उपन्यासकार का रूप भी अधिक सफल रहा। काव्य और नाटक में वे जितने समाज से दूर रहे, उपन्यासों में उतने ही समीप। 'तितली' ग्राम्य जीवन का जीता जागता चित्र है। 'कंकाल' में मूल्यों से रहित समाज का सही खाका है। 'इरावती' (अधूरा) ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रसाद जी के बाद वर्मा जी का नम्बर आ जाता है। वर्मा जी को "Historical Romance" (ऐतिहासिक रोमांस) पसन्द आया। वर्मा जी से पूर्व लेखक इस ओर अग्रसर नहीं होते थे। यह कमी वर्मा जी ने पूरी की। वर्मा जी ने हिन्दी में उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों को लिखकर इतिहास की दृष्टि से जीवन सिद्धान्तों की व्याख्या की। वर्मा जी के उपन्यासों में हमें कला और कर्त्तव्य का अभूतपूर्व समन्वय मिलता है। जीवन के इन दो रूपों की व्याख्या ऐतिहासिक नीति पर जिस रूप में वर्मा जी ने की है वह हिन्दी में अद्वितीय है। 'मृगनयनी', 'गढ़-कुंडार', 'झाँसी की रानी' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। विश्वम्भरनाथ कौशिक प्रेमचन्द के सर्वाधिक निकट रहे हैं। 'माँ' और 'भिखारी' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। जीवन के चित्रपट पर लेकर नारी को लिखे गये उपन्यासों में इनका महत्त्व अक्षुण्ण है। चण्डीप्रसाद हृदयेश भी हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार हैं। आपकी विशेषता है आपकी वर्णन-प्रणाली तथा भाव प्रधान और अलंकार युक्त भाषा। चतुरसेन शास्त्री प्रकृतिवादी उपन्यासकार हैं। आपकी दृष्टि भी प्रेमचन्द की तरह जीवन के व्यापक चित्र पर पड़ती है।

प्रेमचन्द के बाद

प्रेमचन्द के बाद उपन्यास साहित्य में एक विशेष प्रकार की क्रांति आई और यह क्रांति थी सामाजिक उपन्यासों के रूप में। प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का किसी न किसी प्रकार से सहारा लेते हुए लेखक सामाजिक पुट देते रहे।

उपन्यास साहित्य के इन प्रमुख व्यक्तियों के बाद इस धारा ने पुन एक मोड़ लिया। यह मोड़ कुछ देर के लिए सन्धि-स्थल पर विराम लेकर आगे बढ़ा। *जैनेन्द्र इस सन्धि-स्थल के प्रमुख कलाकार हैं। जैनेन्द्र जी ने उपन्यास को* एक नई दिशा दी। जैनेन्द्र जी की विशेषता यह है कि उन्होंने एक ओर तो प्रेमचन्द-परम्परा को स्थापित रखा और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक विषयों को उपन्यासों का आधार बनाया। आपने अनोखे चरित्रों की सृष्टि की और उससे जीवन की कटु वास्तविकता का पर्दाफाश किया। आप पर शरत और टालस्टाय का प्रभाव लक्षित होता है। 'परख', 'त्यागपत्र', 'सुनीता' आपके प्रमुख उपन्यास हैं। इधर उनका 'मुक्तिबोध' काफी चर्चित रहा।

जैनेन्द्र के बाद इस क्षेत्र में इलाचन्द्र जोशी का नाम उल्लेखनीय है। जोशी जी ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों के प्रतिपाद्य विषय और समस्या तथा उसके समाधान में जोशी जी फ्रायड और युंग के सिद्धान्तों को मान्यता देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जोशी जी ने मानसिक उलझनों का चित्रण तो अधिक सफलता से किया है, पर उसमें कोई व्यापकता और गहराई नहीं है। 'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'जहाज का पंछी' काफी लोकप्रिय हुआ।

इसके अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि प्रमुख उपन्यासकारों के द्वारा इस साहित्य की वृद्धि हो रही है। *आधुनिक जीवन में ही महान् परिवर्तन आया है। लेखक बुद्धिवादी* और मनोविश्लेषणवादी दोनों भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। यशपाल इसी कोटि के उपन्यासकार हैं। यशपाल के अतिरिक्त अज्ञेय, निराला, उपेन्द्रनाथ अश्क, रांगेय राघव आदि प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं।

आधुनिक उपन्यास की दो धाराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। पहली धारा प्रगतिशील लेखकों की है जो वर्तमान जीवन की जनवादी की मुखर अभिव्यक्ति को अपना ध्येय समझते हैं। इसके दूसरी ओर मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं। इनकी दृष्टि मनुष्य की परिस्थितिजन्य मानसिक अवस्था का अध्ययन करती है और उनसे तथ्यों का संकलन करती है। यशपाल इन दोनों धाराओं के बीच हैं। उन्होंने दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रकार यशपाल के पूर्व उपन्यास विविध रूपों में विकसित हुआ।

प्रश्न ४—वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'दिव्या' उपन्यास की समीक्षा कीजिए।

उपन्यास में वस्तु का महत्त्व सबसे अधिक है। वस्तु उपन्यास की रीढ़ की हड्डी कही जाती है। उपन्यासकार समग्र जीवन की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि जीवन की सभी घटनाओं का वर्णन करना उसका कार्य नहीं। वह सम्पूर्ण जीवन की कुछ घटनाओं के सर्वस्व का संग्रह करता है और उसको जीवन-व्यापी दृष्टि देकर प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार प्रेमचन्द के विचार हैं—

"उपन्यास कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए।"

प्रेमचन्द के अनुसार वस्तु की अपेक्षा वस्तु-विन्यास कठिन है। एक बात को पूर्ण प्रभाव के साथ वर्णन कर देना कुशल लेखक का कार्य है। वस्तु उपन्यास के शरीर-निर्माण में प्रमुख कार्य करती है। अतः वस्तु की
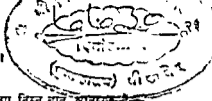
उच्चता उसके सम्पादन में अधिक है।

वस्तु-विन्यास के तत्व

औपन्यासिक वस्तु-विन्यास के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं—

१. वस्तु का अस्तित्व और गम्भीरता।

२. वस्तु का औचित्य।

३. वस्तु की प्रमुख घटनाओं का प्रकट वर्णन और अप्रमुख का त्याग।

४. वस्तु में अनावश्यक व्यापारों और स्थलों का अभाव।

५ आकस्मिक घटनाचक्र का अभाव।

६. प्रमुख कथा से प्रासंगिक कथाओं का उचित सम्बन्ध।

वस्तु के बाह्य विधान के अतिरिक्त उसके कुछ आन्तरिक गुणों की ओर भी लेखक का ध्यान जाना आवश्यक है। ये गुण इसलिए आवश्यक हैं कि लेखक की कृति इन्हीं से पाठक के प्रति संवेद्य बनती है। ये गुण हैं—

१ कथा की मौलिकता।

२. कथा में सम्भवता।

३ रोचकता।

उपन्यास की कथावस्तु में ये तीनों आन्तरिक गुण होने आवश्यक हैं। अब हम दिव्या की समीक्षा इन्हीं आधारों पर करेंगे।

अस्तित्व और गम्भीरता

१ दिव्या में अस्तित्व और गम्भीरता दोनों विद्यमान हैं। अस्तित्व से हमारा तात्पर्य है—वस्तु के एक निश्चित रूप से। जब तक लेखक के मन में वस्तु का एक सम्पूर्ण चित्र अंकित नहीं होगा तब तक उसमें संगठन के कौशल का प्रदर्शन नहीं हो सकता। वस्तु का बाह्य जोड़ रूप-रेखा पर ही आधारित है। गम्भीरता से तात्पर्य है कि वस्तु में लेखक का निश्चित प्रतिपाद होना आवश्यक है। अगम्भीर वस्तु वाले उपन्यास साहित्य की निधि नहीं बन पाते।

दिव्या ब्राह्मण कुल की कुमारी है। उसका पालन-पोषण प्रपितामह आचार्य के धर्मस्थ देवशर्मा के यहाँ होता है। वह पर्याप्त ज्ञानार्जन करती है। उसे

सरस्वती पुत्री का सम्मान मिलता है। मधुपर्व के अवसर पर सागल के वीर पुरुषों की वीरता की परीक्षा दिव्या के सम्मान में की गई। पृथुसेन सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी रहा पर पृथुसेन रुद्रधीर के विरोध के कारण शिविका में कंधा न लगा सका और अपमान भाव के कारण उसके मन में इस व्यवस्था के प्रति रोष पैदा हो गया। दिव्या और पृथुसेन का प्रेम हो गया। दिव्या गर्भवती हो गई।

इसी मध्य यूनानि केन्द्रस की आक्रमक नीति के कारण मद्रराज में परि-वर्तन आये। रुद्रधीर निर्वासित हुआ। पृथुसेन केन्द्रस के मुकाबले के लिए गया। पृथुसेन घायल अवस्था में लौटा और सीरो उसकी सेवा करने लगी। सीरो के कारण दिव्या पृथुसेन से न मिल सकी। यह भावना पृथुसेन के मन को व्याकुल करने लगी। वह उदास रहने लगा और पिता की कूटनीति के कारण उसने सीरो से विवाह कर लिया।

दिव्या अपना मान बचाने धाता के साथ निकल पड़ी। उसे बहुत यात-नाएं मिलीं। वह एक दिन बौद्ध विहार गई, पर वहाँ नियमानुसार उसे शरण न मिल सकी। वह मथुरा के पथ पर भटकती रही और अपने को बचाती रही। इतने में ब्राह्मण की 'पकड़ो-पकड़ो' की आवाज आई। दिव्या पुत्र समेत यमुना में कूद गई, पर राज नर्तकी रत्नप्रभा ने उसे बचा लिया। वह अंशुमाला के नाम से नर्तकी बनी।

एक दिन मारिश अंशुमाला के पास आया। दिव्या को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसने दिव्या के प्रति संवेदना प्रकट की पर कोई विशेष लाभ न निकला। दिव्या के शब्द मारिश के कानों में गूंज उठे ? "आश्रय के मूल्य जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्मनिर्भरता स्वीकार है।" मारिश चला गया।

उधर निष्कासन की अवधि समाप्त कर रुद्रधीर लौटता है। वह भी अंशुमाला के यहाँ जाता है। उसे भी आश्चर्य हुआ। उसने प्रणय निवेदन किया पर दिव्या के कटु हृदय ने उसे ठुकरा दिया। सागल में जाकर रुद्रधीर ने-

षड्यंत्र रचा। पृथुसेन के प्राण बचे। वह भिक्षुक के रूप में बच निकला।

रुद्रधीर उत्तराधिकारी बना। दिव्या मल्लिका के साथ मागन्ध माई पर उचित सम्मान के अभाव से समारोह छोड़कर चली गई क्योंकि "मद्र में द्विज कन्या वेश्या के आसन पर जन के लिए भोग्य बन वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।"—इसके बाद भी दिव्या से सबने प्रणय याचना की पर दिव्या इस प्रवंचना से वशीभूत न हो सकी। उसने गम्भीर स्वर में कहा—"आचार्य! कुल वधू का आसन, कुल माता का आसन, कुल महादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख मस्तक झुकाती है। परन्तु आचार्य कुल माता और कुल महादेवी निरादृत वेश्या की भांति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं। आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी स्वतन्त्र रहेगी।"

इस प्रकार दिव्या के सामने कई स्थितियाँ आती हैं, पर उनमें से किसी को भी स्वीकार न कर मारिश के प्रस्ताव को स्वीकार करती है।

इस प्रकार उसके जीवन की लम्बी कथा का अवसान होता है।

औचित्य

इस सम्पूर्ण कथानक में वस्तु की गम्भीरता और उसका औचित्य विद्यमान है। औचित्य इसलिए है कि समाज के एक विशेष वर्ग के चित्र का अनावरण लेखक ने अपनी भावुक और तीखी लेखनी से किया है।

प्रमुख विशेषताएँ

दिव्या के वस्तु-विन्यास की प्रमुख विशेषता है कि लेखक ने सारी कथा-वस्तु में प्रमुख घटना चित्रों को स्थान दिया है। स्वयं लेखक ने इसे बौद्ध-कालीन उपन्यास माना है। पर इसके साथ लेखक कि दिव्या ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। लेखक ने इतिहास क को अपने उपन्यास में स्थान न देकर उसके भाव . का मन्तव्य केवल इतना है कि क जीवन की विषमता पर प्रकाश

वस्तु-संगठन

दिव्या का वस्तु-विन्यास संगठित है। सारी कथा १३ अध्याय में विभाजित है। पहले पृथुसेन भी कथाओं में प्रमुख होकर आता है, पर बाद में केवल दिव्या लेखक की भावना का केन्द्र बिन्दु बनती है। दिव्या में अनावश्यक रूप से स्थलों का निर्माण नहीं हुआ। लेखक जब किसी घटना का निर्माण करता है तो उसकी अन्विति किसी प्रमुख घटना में हो जाती है। दिव्या में व्यक्तिगत संघर्ष के साथ सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष भी है। पर सब में उपन्यास की मूलवर्ती भावना सुरक्षित रहती है। एक स्थान पर जब रुद्रधीर पृथुसेन को परास्त करता है तब ऐसा लगता है कि सारा घटना-चक्र अस्वाभाविक है लेकिन बात ऐसी है नहीं। उस समय का सारा षड्यन्त्र राजनैतिक आधार लिए है और राज्यों के उलट-पलट में इस प्रकार की घटनाओं का औचित्य संदिग्ध नहीं है। दिव्या का पृथुसेन से निराश होकर जाना और दासी बनना तथा वेश्या बनना सभी उसके जीवन की ऐसी वास्तविकताएँ हैं कि उनको विराम स्थल कहकर पृथक् नहीं किया जा सकता। उनके द्वारा दिव्या के चरित्र का निर्माण होता है।

स्वाभाविकता

यद्यपि दिव्या में आकस्मिक घटनाओं का संयोजन है, पर वह अस्वाभाविक नहीं है। मारिश और पृथुसेन का दिव्या से मिलन इस ओर संकेत करता है, लेकिन उसकी आकस्मिकता उपन्यास में अस्वाभाविकता का सृजन नहीं करती। यशपाल ने केवल घटनाओं को ही नहीं, पात्रों को भी सुन्दर और नाटकीय ढंग से उतारा। दिव्या के वस्तु-विन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसकी नाटकीयता ही है। इससे पाठक संवादों के बीच तथ्य पर विचार [illegible]ना हुआ पाता है। विचार प्रधान स्थानों पर यह संवादात्मक प्रणाली [illegible] अधिक प्रौढ़ हो जाती है। नाटकीय होने के कारण कथानक में [illegible] है और घटनाएँ एक चल-चित्र की भाँति पाठक के सामने आकर [illegible] करती हैं।

इतनी बात होते हुए भी कथा के विन्यास में कई स्थलों पर शिथिलता का आभास होने लगता है। उस समय की व्यवस्था-प्रणाली के कारण यह शैथिल्य आना स्वाभाविक भी है।

मौलिकता

कथा-विन्यास में मौलिकता अपेक्षणीय तथ्य है। यह एक ऐसा गुण है जिसके कारण ऐतिहासिक घटनाओं के परिचय के बाद भी उन्हीं घटनाओं पर लिखा उपन्यास भी रोचक लगता है। इसका कारण है लेखक की कल्पना और मौलिकता। दिव्या में लेखक ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। लेखक अपनी प्रगतिशीलता और जीवन-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन मारिश के द्वारा करता है। यही उसकी मौलिकता है। इस दृष्टि से 'दिव्या' की कथा स्पृहणीय है।

मौलिक कथावस्तु का प्रतिपादन जिस कौशल से होता है वह लेखक की कृति को महत्ता प्रदान करता है। 'कौशल' से अभिप्राय कथा वस्तु में सम्बन्ध निर्वाह, उसकी उलझनों को सुलझाने की चतुरता है। इस दृष्टि से दिव्या सफल है। उसमें सम्बन्ध निर्वाह और उलझने की चतुरता द्रष्टव्य है। दिव्या मारिश, पृथुसेन तथा रुद्रधीर सभी की समस्याओं में अजीब उलझन है, किन्तु उनका समाधान होता है। कहीं पर यह समाधान आत्म सन्तोष है, कहीं पर विद्रोह। दिव्या जीवन सन्तोष की वृत्ति पर अंकित है।

कथा की सम्भवता तो उपन्यास की भावधारा का प्राण है। दिव्या में नारी जीवन की स्वाभाविक, आत्मजन्य और समाजजन्य विषमताओं का चित्रण है। दिव्या का जीवन स्वाभाविक है उसमें परिस्थिति से सम्बन्ध स्थापित कर जीवन को समझने की शक्ति विद्यमान है। दिव्या के जीवन की कोई भी घटना अस्वाभाविक नहीं। वह समाज से तिरस्कृत है और इस वेश्या जीवन की स्वीकृति नारी जीवन का इतना बड़ा सत्य है कि सम्भवतः यही घटना उपन्यास की सम्भवता का प्राण है।

रोचकता से तात्पर्य पाठक की निरन्तर जिज्ञासा और उसकी पूर्ति से है।

उपन्यास में रोचकता का होना आवश्यक है। पाठक वर्तमान की स्थिति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रस ग्रहण करता है, किन्तु भावी की उत्सुकता उसको पाठक को सजग करती है। यही उत्सुकता रोचकता के मूल में कार्य करती है। दिव्या की कथा और उसकी घटनाएँ हमेशा मोड़ लेती हैं। दिव्या, पृथुसेन, रुद्रधीर सभी के जीवन में मोड़ आते हैं। सारी कहानी इन सब में बिखरती है। फिर मल्लिका के द्वारा जब दिव्या पुन. लौटाई जाती है तब उस स्थल पर कथा सिमट कर समाप्त हो जाती है। यही कथा की रोचकता का सबसे बड़ा प्रमाण है कि दिव्या किसी भी बात पर एक निश्चय नहीं करती। उसके अनिश्चय में पाठक की जिज्ञासा पलती है।

इस प्रकार दिव्या की कथावस्तु का संयोजन उचित रीति से हुआ है। उपन्यास में मनोवैज्ञानिक पुट होने के कारण विश्लेषण और मानसिक विश्लेषण का जितना भी अवसर आया है उसने कथा संयोजन में पूर्णता की स्थापना की है। कहीं पर भी लेखक का विवाद शिथिलता का कारण नहीं बनता। विचार का सम्पादन लेखक ने इतनी कुशलता से किया है कि तथ्य की पकड़ पर पाठक स्थिति से रस लेता हुआ भावी की जिज्ञासा में घूमता उपन्यास की समाप्ति तक आ जाता है।

प्रश्न ५—'दिव्या' की समस्या इतनी सामाजिक नहीं जितनी मनोवैज्ञानिक है।' इस कथन का तर्कयुक्त उत्तर देते हुए दिव्या के मनोवैज्ञानिक पहलू पर प्रकाश डालिए।

कलाकार कला की सृष्टि में अपने मानस की स्वाभाविक गति का पूर्ण परिचय देता है। उसकी कला उसके हृदय के निकटतम होती है। कला यद्यपि 'कान्ता सम्मित 'उपदेश' है फिर भी इस उपदेश में उपदेश के जीवन सिद्धान्त अधिक मुखर होते हैं। कला की एक-एक रेखा कलाकार के मन्तव्य प्रकट करती है और उसका सम्पूर्ण चित्र उसके जीवन की यथार्थ झाँकी है।

का युग विचार और तर्क का युग है। इस भौतिक युग में मानव

जीवन ने कई नई समस्यायें उत्पन्न कर ली हैं। और वे सभी समस्याएँ इसके
जीवन की जड़ से सम्बद्ध हैं, अत मानव उनसे छुटकारा नही पा सकता।
काम और भूख ये दो समस्याएँ तो शाश्वत हैं, लेकिन इनका रूप हर युग में
बदलता रहा है। आज भी बदला है। यशपाल जैसे कुशल कलाकार पर एक
ओर तो मार्क्स का प्रभाव है और दूसरी ओर आज के मनोविश्लेषणवाद का;
इनके उपन्यासो मे इसीलिए सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओ का
प्रवेश होता है। या यों कहना समीचीन होगा कि यशपाल एक ही समस्या को
दोनो दृष्टियो से देखते हैं। डा० शिवदानसिंह चौहान के शब्दो मे—"'''कुछ
आलोचक आप (यशपाल) पर राजनैतिक रोमास लिखने का आरोप लगाते
हैं। वस्तुत बात यह है कि आपने अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के व्याप
सांस्कृतिक सौन्दर्य पक्ष को उतना नही पहचाना जितना आर्थिक पक्ष को
जिससे आप मनुष्य की समस्त समस्याओं को 'शिश्नोदर' की समस्या
सकीर्ण बना देते हैं। इसी से आपके यथार्थवाद की सीमाएँ बँध जाती हैं। और
आपको अपनी कथाओ को मनोरजक बनाने के लिये नग्न प्रसगो की भरती
करनी पडती है।" इस उक्ति से दो बातें ध्यान मे आती हैं—एक तो य
कि यशपाल की सामाजिक दृष्टि यथार्थ के समीप है, किन्तु उसमे सकुचि
दृष्टि है। दूसरी यशपाल की मनोवैज्ञानिकता कभी-कभी नग्न हो जाती है
हम यह कहना चाहते हैं कि समस्या के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोन
पहलुओं मे जीवन का यथार्थ निहित है। लेकिन कलाकार यदि मतवाद औ
किसी विशिष्ट भावना से प्रेरित होकर लिखेगा तो उसकी वस्तु पाठक क
सवेदना को अधिक देर तक उत्तेजित नहीं कर सकती। दिव्या की समस्या क
सामाजिक रूप यह है कि जीवन की अनेक उत्थान और पतनमयी घड़ियो
शुद्ध भौतिकवादी अन्त मे ही सुखदायक है। इसको दिव्या के जीवन से इ
प्रकार कहना होगा कि 'लेखक ने सुकुमार दिव्या को अनवरत संघर्ष मे रख
कर—जिसमे उसका स्वयं और समाज का हाथ था—बौद्ध और ब्राह्मण ध
की आत्मशक्ति की हीनता का प्रदर्शन कराकर जीवन मे भौतिक महत्व

स्वीकृति कराई है। इसीलिये दिव्या के जीवन की बागडोर लेखक ने भौतिकवादी मारिश के हाथ सौंप दी क्योंकि वह जीवन की आन्तरिक मृग-तृष्णा में न फँसकर शुद्ध बौद्धिक और भौतिक जीवन में विश्वास रखता है। वह कहता है—"मैं मारिशदेवी के सामीप्य के लिये ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ" मारिश, देवी को राजप्रसाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश, देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख दुःख का अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उसे अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है। संतति के परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

मारिश का यह कथन शुद्ध भौतिक दृष्टि से प्रेरित है। यहाँ पर यशपाल की सामाजिकता विश्व के अध्यात्म के प्रपंच को चुनौती देती है। यह आज के जीवन की वास्तविकता का पूर्ण चित्र है। दिव्या की यह समस्या भौतिक है जिसका समाधान भी भौतिक है।

सामाजिक पहलू

सामाजिक पहलू के रूप में निम्न बातें हमारे सामने आती हैं—

(१) नारी का स्थान समाज में केवल भोग्या के रूप में है।

(२) धर्म में नारी की स्वतन्त्रता का पक्ष प्रबल नहीं है।

(३) जाति मात्र का भेद जीवन की वास्तविकता का हनन करता है।

यशपाल ने दिव्या में इन सभी तथ्यों पर विचार किया है। मारिश, ...न दोनों के मुख से उसने इस प्रकार की बातें कहलाई हैं। नारी भोग्या ...उसका कोई भी कर्म उसके संरक्षक के बिना नहीं हो सकता, वह स्वतन्त्र ...है। समाज की व्यवस्था उसके शोषण के लिए अधिक उपयुक्त है, पालन ...लए नहीं। आज के समाज पर यशपाल ने एक और व्यंग्य किया है और

वह यह कि नारी वेश्या होने पर भी यदि किसी बड़े व्यक्ति के आकर्षण का कारण बने तो सम्मानीय हो सकती है। 'समरथ को नही, दोस गुसाईं" वाली कहावत यहाँ पर चरितार्थ होती है।

यशपाल ने अपने उपन्यास मे जिस यथार्थ का चित्रण किया है वह भी सामाजिक रूप-रेखा को स्पष्ट करता है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लेकर लेखक ने समाज के थोथे और खोखलेपन का अनावरण किया है। अब प्रश्न यह है कि जो समस्या यशपाल ने ली है वह सामाजिक है या वैयक्तिक ? वेश्या की समस्या सामाजिक है। समाज का एक वर्ग चाहता है कि ऐसा हो, अतः इसका निवारण भी उसी अर्थ मे होना चाहिए। यशपाल केवल एक बात कहना चाहते हैं कि शोषण की मति समाज मे अतिव्यवस्था का कारण बनती है। वेश्या और इस प्रकार के और छोटे व्यक्ति समाज मे पीडित हैं। इनका क्या हैं। किसी न किसी रूप मे यह बात आज भी है।

दिव्या की गम्भीर समस्या केवल नारी की है। यह समस्या सामाजिक है, वैयक्तिक नही। दिव्या कहती है—

"आचार्य कुल माता और कुल महादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य कुल वध का सम्मान, कुल माता का आदर और कुल महादेवी का अधिकार आर्य पुरुषो का प्रथम मात्र है। वह नारी का सम्मान नही। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष के समान हैं। *आर्य अपनी इच्छा से अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है।* ज्ञानी, आर्य जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया वह क्या पा सकेगा ? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी।" दिव्या के शब्दो मे एक सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना प्रकट होती है। वह यह कि *पुरुष को नारी का सम्मान करना होगा,* उसे उसका स्थान देना होगा अन्यथा समाज की व्यवस्था सकुशल न रह सकेगी।

सामाजिक रूप से यशपाल की समस्या और उसके समाधान दोनो में पक्षपात है। वह है अपने विचार के प्रति। यदि ब्राह्मण धर्म का विरोध करना था तो उसके पूरे पक्षो का अध्ययन करके करना था। ब्राह्मण धर्म मे नार

इतनी दोषित नही, वहाँ तो नारी के बिना पुरुष का कोई कार्य भी नहीं होता। यहाँ यशपाल साम्यवाद ही अनावश्यक प्रेम के कारण पक्षपात कर गए हैं।

यशपाल ने जाति भाव की सामाजिक समस्या को भी स्पर्श किया है, किन्तु उसका विकास पूर्ण रूप से नही हो पाया। पृथुसेन केवल एक बार जाति भाव के कारण अपने अधिकार से अलग किया जाता है। उसके बाद लेखक इस विषय से उदासीन होकर दिव्या पर केन्द्रस्थ हो गया। जाति की समस्या से उत्पन्न अनेक सामाजिक विषमताओं की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया। इसका कारण यह था कि लेखक का दृष्टिकोण केवल दो धाराओं पर चल रहा था। एक व्यक्ति पक्ष पर जिसका मूल है काम और दूसरा सामाजिक पक्ष पर जिसका आधार है भौतिकता। इस प्रकार दिव्या में समस्याओं की रूपरेखा पूर्ण सामाजिक नहीं कही जा सकती। लेखक का दृष्टिकोण वैयक्तिक चरित्रों के उत्थान पतन मे जीवन की भीषण वास्तविकताओं का प्रदर्शन करना है।

मनोवैज्ञानिक पहलू

मनोवैज्ञानिक रूप से स्त्री मे निम्न प्रमुख बातें हो सकती हैं—

१. मनुष्य की काम प्रवृत्ति स्वाभाविक है। वह विधि विधानों के बन्धन को केवल विवशता मे स्वीकार करती है।

२. पुरुष के लिए नारी केवल आकर्षण है। जब तक यह आकर्षण है वह पूजक, दास और वनीत सब कुछ है।

३ दिव्या के मन मे स्वतन्त्रता की भावना का उग्ररूप है।

यशपाल ने सारे उपन्यास मे दिव्या का चरित्र वैयक्तिक भाव भूमि पर चित्रित किया है। हमे तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण दिव्या इस बात का उद्घोष है कि भाग्य लिपि से भी अधिक व्यक्ति का अपना रचना विधान होता है। व्यक्ति का मनोविज्ञान इतना उन्मुक्त है कि वह अपने बनाये बन्धनों मे उलझता है। दिव्या ने समाज का विरोध कर अपना स्वतन्त्र रूप से सेन से सम्बन्ध स्थापित किया। मनुष्य मे काम प्रवृत्ति अति प्रबल है।

उसके कारण कभी-कभी वह वस्तुस्थिति से भी पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त कर पाता। दिव्या के मन में कितनी ठेस लगती है जब वह बौद्धों के मन्दिर के आगे यह सुनकर आती है कि "वेश्या स्वतन्त्र नारी है।" यहाँ उसका मन विक्षिप्त हो जाता है। वह अपने जीवन की सारी भीषणताओं का उत्तरदायित्व अपने नारीत्व की सहनशीलता और आदर्शवादिता पर थोप कर उसका बोझा हटाने की सोचती है और नर्तकी का जीवन अपना लेती है। यद्यपि यहाँ लेखक की भौतिकवादी कलम मन के अध्ययन में अपने मतवाद को भूलकर मन की वास्तविकता पहचान करती है। बच्चे को गोद में लेकर अपमानित होकर प्रत्येक नारी मृत्यु की ओर अग्रसर होती है। यही रूप यशपाल ने भी दिखाया है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि दिव्या नर्तकी के जीवन को अपनाकर इस प्रवंचना में नहीं फँसना चाहती। वह प्रसन्नता से वही जीवन स्वीकार करती है। इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण है कि दिव्या यह विचार करती है कि अब उसके लिए जीवन की विशालता में पूर्व आदर की जगह नहीं है। अब तो यहीं आदर मिल सकता है। लेखक यह दिखाना चाहता है कि किस प्रकार एक सम्भ्रान्त कुल की नारी उत्थान और पतन की सीमा तक पहुँचकर जीवन की रूपरेखा बदलती है और उसको विशेष दुःख नहीं होता।

दिव्या में लेखक ने व्यक्ति के अन्तर की गहराई में बैठकर उसके मन की विविध भावधाराओं को पढ़ने का प्रयास किया है। विशेष स्थिति में व्यक्ति के जीवन में क्या परिवर्तन आते हैं और उन परिवर्तनों का वह कितना उत्तरदायी होता है। सम्भवतः दिव्या इसी अध्ययन का परिणाम है। जीवन में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ अधिक कटु शिक्षक होता है। जीवन की सैद्धान्तिक मान्यताओं के परिवर्तन में अधिक सहायक होता है। दिव्या का जीवन इसी परिवर्तन को प्रस्तुत करता है। स्थिति के थपेड़े उसके जीवन सम्बन्धी विचारों में कितना महान् परिवर्तन कर देते हैं।

प्रेम जीवन की स्वाभाविक क्रिया है, वह किसी पर थोपा नहीं जाता।

उसका विकास समाज के किसी विधान की अपेक्षा भी नहीं करता। दिव्या का आत्म-समर्पण केवल उसके व्यक्ति से सम्बन्धित है। वह समर्पण करती है बिना समाज को विचारे, बिना अग्नि को साक्षी करे। वह सशक्त होकर कहती है—'विवाह भी विलम्ब से नहीं—तुरन्त'''आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूं।'''पर कुछ समय बाद ही दिव्या कहती है—'क्या आर्य मुझे भूल ही गये? क्या वह प्रणय और विह्वलता सब छल और प्रवंचना मात्र थी।' दिव्या का जीवन कितनी आपदाओं में जाता है। पर वह सब कुछ सहती है। विवशता उसके मुख से क्या कहलवा लेती है—"मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूंगी।'''आर्य के प्रासाद में कीमियों दासियाँ अनेक सेवा कार्य के लिए है। क्या मेरे लिए वहाँ स्थान नहीं?" उसका मन जीवन की थोथी भावना पर इतना अधिक विश्वास करने लगा है कि वह अपने जीवन को सबका भोग्य समझने लगी है। वह कहती है।'

'नारी है क्या' मातालवृक ठीक ही कहता है। अम्मा और रुद्रधीर कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और मातालवृक नारी के लिए सब समान है। जो भोग्या बनने के लिए उत्पन्न हुई है उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ? उसे सब भोगेंगे ही। भय किसी से नहीं। दिव्या के अन्तर में बैठकर लेखक ने एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भांति उसके भावों को अभिव्यक्ति की है। इस प्रकार दिव्या का उदात्त व्यक्तित्व अनेक स्थानों पर विवशता का स्वर कहता और अनेक स्थानों पर दृढ़ता का नाटक करता बढ़ता है। एक बात यह स्वीकार करनी पड़ेगी कि दिव्या का सारा मानसिक संघर्ष बाह्य विधानों द्वारा प्रदत्त है। अन्त में यह कहना समुचित होगा कि हमारे लेखक ने उपन्यास में समस्या के सामाजिक पहलू पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना वैयक्तिक या मनोवैज्ञा-
पर। और *दिव्या का मनोवैज्ञानिक पहलू लेखक के उद्देश्य के अनुसार* है।

प्रश्न ६—दिव्या उपन्यास के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए।

दिव्या

दिव्या उपन्यास की नायिका है। पाठक से उसका साक्षात्कार मधु-पर्व के अवसर पर नृत्य की मुद्रा में होता है। उसका 'मराली का आत्मसमर्पण' नृत्य कला की दृष्टि से उच्चतम होता है और दिव्या को पुरस्कार स्वरूप 'सरस्वती पुत्री' की उपाधि मिलती है। यहाँ पर सर्वप्रथम हम दिव्या को एक कुशल नर्तकी के रूप में देखते हैं।

दिव्या माता पिता हीन द्विज कन्या है। उसका पोषण प्रपितामह के घर हुआ। दिव्या ज्ञानी थी। उसमें भावना का पूर्ण प्रसार था। अकेली होने के कारण दिव्या सबको प्रिय थी।

प्रेमिका

दिव्या का दूसरा रूप एक प्रेमिका का है। वह जब प्रेस्थ के पुत्र पृथुसेन से मिलती है तो उसके शौर्य और निर्मम रूप को अपना मन और देती है। वह उदार मना है। धन जाति आदि की उपेक्षा करती है। उपन्यासकार ने बहुत सुन्दर शब्दों में दिव्या के मन में उत्पन्न होने वाले प्रेम का रूप अंकित किया है। उसका मन पृथुसेन से कुछ कहना चाहता था। क्या? सो वह स्वयं भी ठीक न जानती थी, ऐसा ही कुछ सहानुभूति और सान्त्वना के रूप में··· यही नहीं, लेखक पृथुसेन के विषय में भी कहता है—"पृथुसेन कुछ भटकता-सा आश्रय की खोज में खिन्न-सा जान पड़ता था। स्वयं भी वह कभी उसी प्रकार अनुभव करती, तब भरे-पूरे प्रासाद में भी सूनापन लगता।" निम्न जाति के युवक से द्विज-कन्या का प्रेम तत्कालीन जातीय प्रथा को चुनौती है।

दिव्या का प्रेम एकनिष्ठ है और वह रुद्रधीर की आसक्ति का भाव जानते हुए उससे प्रेम नहीं करती। उसे रुद्रधीर की द्वितीय पत्नी बनने की कल्पना रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। रुद्रधीर के पृथुसेन के प्रति दुर्व्यवहार ने दिव्या को और भी भयग्रस्त और प्रनासक्त बना दिया। दिव्या पृथुसेन के लिए व्याकुल है। वह उससे मिलने जाती है। मल्लिका देवी के बहाने वहाँ पहुँचती है। पृथुसेन का स्वर आदर से प्रारम्भ होकर 'प्रिय' में बदलता है, और दिव्या

उसकी सभी भावनाओं को मौन होकर स्वीकार करती है।

आत्मसमर्पण के बाद दिव्या का चरित्र एक मोड़ लेता है। उसे पृथुसेन पर विश्वास है। प्रेमिका के रूप में दिव्या का आदर्श कहीं गिरा नहीं। वह निर्भीकता से कहती है,

"तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूंगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे प्राणि के लिए तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयं यही चाहती हूँ विवाह भी विलम्ब से नहीं तुरन्त... आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ।" यहाँ दिव्या का आदर्श उसके स्वरों में दृढता का गुन्जार करता है। इतना अधिक विश्वास लेकर उसने अपने प्रेम को ऊँचा अमानवीय बना दिया है। वह दिव्य अनुभूति का वाहक है।

पृथुसेन के युद्ध से लौटने और दिव्या से न मिलने के कारण दिव्या के मन में विभिन्न स्थितियाँ घूम जाती हैं। सीरो का व्यवहार दिव्या के अहं को एक ठोकर मारकर उस पर उपहास करता महल के दरवाजे को बन्द करता भीतर प्रवेश कर गया। छाया के द्वारा उसे जो वृत्तान्त मिलते हैं उनसे भी दिव्या को कष्ट होता है।

उसके जीवन की सम्पूर्ण महत्त्वाकांक्षा और माधुर्य कलंक और अपराध बना जा रहा है। वह सोचती है, "क्या आप मुझे भूल ही गये।" यहाँ दिव्या की विवशता है। उसके चरित्र का एक मोड़ है। वह यहाँ रुद्रधीर को याद करती है पर यह स्थिति मनोवैज्ञानिक नहीं।

दिव्या सशक्त है

वह आत्महत्या की ओर प्रेरित नहीं होती। वह, आर्य से साक्षात्कार ने को तैयार है। उसके लिए प्रयत्न करती है। दिव्या कहती है, "मैं के साथ सम्भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूंगी।" लेकिन उसे यह भी मिलता। फिर भी वह निराश नहीं होती, वह अपने आपको बेचकर ी बनकर जीवन-यापन की सोचती है। यहाँ से उसके जीवन का संकट

प्रारम्भ होता है। वह अपने को दैव के हाथों सौंप देती है। मदलने के बाद उसका मन नारी को केवल भोग्या समझता है। वह जीवन की वास्तविकता से ऊब कर नारी की महत्ता का झूठा दम्भ नहीं भरती। दिव्या सब कुछ सहती है, पर अपराधिनी और कलंकिनी बनकर नहीं रहना चाहती। जब वह पथूल के मथुरी नदी पार करने के अवसर पर बचने के अवसर होते भी नहीं बचती, क्योंकि बाद में वह कहां जावेगी, उसकी सम्भावित संतान के लिए शरण कहां? तो वह मथुरापुरी की दासी-व्यापारी भूधर को बेच दी जाती है। वहां उसके पुत्र होता है। वहां पुत्र सहित चक्रधर उसे खरीद लेता है। एक दिन वह बौद्ध स्थविर की शरण में पहुंचती है और चक्रधर के पीड़ा करने के कारण आत्महत्या करती है। यहां उसका चरित्र अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। समाज की सभी प्रकार की यातनाएं सहकर आखिर कब तक वह उनको सहेगी। पर वह बच जाती है।

बौद्ध स्थविर के ये वचन कि 'वेश्या स्वतन्त्र नारी है', दिव्या के मानसिक जगत् में एक तूफान पैदा कर देते हैं। उसे बार-बार इसी बात का ध्यान आता है और अब वह वेश्या बनने का प्रबन्ध कर लेती है। उसका नाम अंशुमाला रखा जाता है।

पवित्रता

दिव्या का चित्र प्रत्येक स्थिति में पवित्र है। उस पर शारीरिक अपवित्रता की छाया नहीं पड़ने पाती। उपन्यासकार यहीं उसे बचा लेता है। दिव्या के इस जीवन के चरित्र के समाज का अपवाद किस प्रकार अभिव्यक्त करता है, "अंशुमाला वेश्या नहीं, केवल नृत्य की काष्ठ पुत्तलिका है। प्रस्तर के देवता के सम्मुख नृत्य का अनुष्ठान करने योग्य नृत्य का यन्त्र मात्र है। उसका लास्य, स्मित और कटाक्ष केवल कला के अनुष्ठान मात्र हैं। मनुष्य के सम्भोग की वस्तु नहीं।" दिव्या के चरित्र की यह उज्ज्वलता अस्वाभाविक नहीं। उस समाज में नर्तकियों का आदर सम्भवतः इसलिए होता था कि वे शरीर से पवित्र होती थीं।

तटस्थ

दिव्या के पतन या इस प्रकार के जीवन का एक कारण था उसका दारुण अतीत और अनिश्चय भविष्य, "सम्पन्न परिवार ; अनुरक्त पति, सुन्दर संतान ? वह सब पाया और नही रहा ।" अब दिव्या तटस्थ है । इस अवस्था मे उसने कितने प्रणय-निवेदन सुने, पर वह तटस्थ रही ।

मारिश उसके सार्थक अनुराग का प्रार्थी बनकर आता है, पर वह उसे स्वीकार नही करती । वह कहती है, "देवी मल्लिका की भाँति कला की आराधना जीवन का लक्ष्य बनाकर अपना जीवन उसे अर्पण करेगी । पराश्रित और भोग्या न रहकर वह आत्म-निर्भर रहेगी" इस रूप मे दिव्या का उदात्त व्यक्तित्व स्थान-स्थान पर लक्षित होता है । वह आश्रय के मूल्य पर जीवन की सार्थकता नही चाहती । वह रुद्रधीर, मारिश सभी के प्रणय को अस्वीकार करती है, पर बाद मे मारिश के प्रणय के लिए बाहें फैला देती है । यह उसकी पराजय नहीं, सार्थकता है क्योंकि मारिश ने आदान-प्रदान की बात की थी ।

भगवतशरण उपाध्याय ने दिव्या के चरित्र को निर्जीव बताया है, पर ऐसा है नहीं, वह सशक्त है । जीवन की अनेक कटु यातनाओ को सहकर उसके ऊपर खड़ा रहना और अन्त मे उसे प्राप्त करना निर्बलता नहीं सबलता है । श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दो मे,—"सभी पात्र-पात्रियो के ऊपर दिव्या का व्यक्तित्व अनुरागिनी ऊषा और विषादिनी सन्ध्या की भाँति शोभायमान है । उसी की आत्मा अमृतलोक-वासिनी जान पड़ती है, शेष प्राणी तो इस मर्त्यलोक के सासांरिक जीव हैं । वह तो चिरन्तन सुशील बालिका है ।" लेखक बहुत बड़ी हिम्मत के साथ दिव्या को प्रगतिशील विचारक मारिश के हाथ अर्पित करता है । दिव्या का व्यक्तित्व मुखर, उन्नत और धीर वाला है । अन्य पात्रों की अपेक्षा दिव्या का चरित्र अधिक मनोवैज्ञानिक है । उसमें चरित्रगत [illegible]लताएँ भी कम हैं । वह एक विशेष नारी का प्रतिनिधित्व करती है । इस [illegible]त्र के उभार में लेखक की कला और प्रतिमा दोनो की प्रशंसा प्रत्येक विज्ञ करेगा ।

पृथुसेन

पृथुसेन प्रेस्थ का पुत्र है। प्रेस्थ दास था, पर अब उसकी अवस्था पहले से बहुत अच्छी है। वह प्रमुख मन्त्रणा दाता है। अत: उसका पुत्र पृथुसेन हाथ में खड्ग लेकर चलता है। पृथुसेन का पालन-पोषण अभिजात वर्गीय बच्चों की भाँति हुआ है, "शैशव में ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्मगौरव का भाव शिक्षा से अधिक और विनय का माधुर्य कम था। उसकी प्रवृत्ति मार्ग रोकने वाली अर्गला के नीचे सिर झुकाकर निकल जाने की अपेक्षा अड़चन से भिड़ जाने की ओर थी।" लेखक के इन शब्दों में पृथुसेन का चरित्र इतना अधिक स्पष्ट हो गया है कि उसके सभी गुण हमारे सामने आ जाते हैं।

व्यक्तित्व

पृथुसेन का व्यक्तित्व आकर्षक है, 'यवन सामन्त के समान गौर वर्ण, परन्तु द्विज के समान कृष्ण नेत्र, ऊँचा और बलिष्ठ शरीर।" पृथुसेन अपनी वीरता के कारण सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित होता है।

न्यायशील

पृथुसेन का झुकाव न्याय की ओर है। वह अन्याय सहन नहीं कर सकता। यह रूप दो स्थानों पर है। एक तो प्रतियोगिता के निर्णय के समय, दूसरे शिविका के नीचे कंधा लगाने के समय—वह अपने अधिकार का निश्चय परम्परागत धारणाओं से नहीं, खड्ग से करता है।

हीन ग्रन्थि

पृथुसेन के स्वभाव में एक प्रकार की हीन ग्रन्थि मिलती है। दास होने के कारण या शक्ति परीक्षा के समय उसकी उपेक्षा उसे असह्य हो उठती है। वह उद्दंड हो जाता है। दिव्या के न मिलने का कारण उसे अपना जीवन न लगकर दिव्या का उच्च कुल लगा, पर उसे अपनी वीरता का अभिमान है। वह न्याय के लिए कहता है, "गण परिषद् से सहायता पाकर जो न्याय मुझे धर्मस्थान से मिलेगा उसके लिए मैं धर्मास्थान के सम्मुख आभारी न होऊँगा...वह न्याय नहीं, सबल का सम्मान मात्र होगा।"

पृथुसेन को वीरता का गर्व है। पर वह परिस्थिति को पूर्ण रूप से समझने मे असमर्थ है। उसकी इस कमी के कारण दिव्या का जीवन नारकीय हो गया। वह अपने पिता की अवज्ञा करके किसी के सामने सिर नहीं झुकाता। लेखक ने इतने उदार चरित्र को अन्त तक अपनी एक कसौटी पर नहीं रखा। उत्तरार्द्ध मे पृथुसेन गौण पात्र बन जाता है। इसका कारण है मारिश और दिव्या का समस्यामूलक जीवन और उसका उद्घाटन।

तीन रूप

पृथुसेन के व्यक्तित्व के तीन रूप हैं—

१. प्रेमी का रूप।

२. राजनीतिज्ञ का रूप।

३. भिक्षु का रूप।

पृथुसेन इन तीनों रूपो मे आदर्श की अन्तिम स्थिति तक नही पहुँच पाता। उसके चरित्र के साथ न्याय नही होता। दिव्या के प्रेम से उसके जीवन मे कितना बडा परिवर्तन आ सकता था, इसका रूप देखिए। पृथुसेन का विचार है कि, "उसके दुःख से दुःखी दिव्या के सामीप्य से उसे सान्त्वना मिली। जीवन का उसे एक ही मार्ग दिखाई देता—संसार मे उसे मनुष्य जान जिसने अपनाया, अनेक बाधाओं की उपेक्षा कर अपना हृदय अर्पित किया, वही दिव्या उसकी एकमात्र अवलम्ब थी, अपनी थी, उसी दिव्या को ले वह किसी अज्ञात दिशा की ओर देश मे जा अपने लिए नया स्थान, नया समाज, नया संसार बसा ले, ऐसे देश मे जहाँ वह अपने जन्म के लिए दण्डित न हो, जहाँ वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो, जहाँ उसे कर्म करने का स्वतन्त्र अवसर हो। जहाँ उसका पुरुषार्थ और प्रतिभा अकुलीन पिता की सन्तान होने के कारण व्यर्थ न जाए।" यहाँ वह अपने जीवन की विषमता को दूर करके एक नवजीवन का आदर्श स्थापित करता है।

राजनीतिज्ञ

राजनीतिज्ञ के रूप मे पृथुसेन को सीरो से विवाह करना पड़ता है। वह

पुगल है और इस कारण उसके हाथ में शक्ति आ जाती है। इस रूप में पृथुसेन का चरित्र दुर्बल है। वह केवल विवशताओं के आगे मौन होकर उन्हें स्वीकार करता है। विद्रोह नहीं करता। पर केन्द्रस को पराजित करने में उसके साहस और वीरता का परिचय मिलता है। पर उसकी सफलता के पीछे उसके पिता प्रेस्थ का हाथ है। इस रूप में हम देखते हैं कि पृथुसेन का चरित्र पूर्ण रूप से नहीं उभर पाया। उसमें कुछ दुर्बलताएँ रह गई हैं।

मारिश

फल भोक्ता होने के नाते मारिश को उपन्यास का नायक कहा जा सकता है। प्रमुखता की दृष्टि से मारिश में दो गुण हैं। प्रथम तो वह अन्त में दिव्या को प्राप्त करता है। इस दृष्टि से वह प्रत्येक पाठक की नजर में उठ जाता है। दूसरे वह (मारिश) लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। उसका व्यक्तित्व सैद्धान्तिक प्रतिपादन के रूप में असाधारण है।

दार्शनिक

मारिश दार्शनिक है। वह जीवन को एक दृष्टिकोण से देखता है। मराली के नृत्य के बाद उसकी प्रतिक्रिया कितनी स्पष्ट है! वह कहता है "बुद्धिमान जन देखें और जानें। माया के बन्धन में जीव को इसी प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है।...भद्रे! दुःख की भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्म-प्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति, प्रबल और अमर्दित सत्य है।" यहाँ मारिश जीवन के प्रति सत्य और भौतिक दृष्टि से जीवन की व्याख्या करता है। वह अध्यात्म की भ्रान्ति को अकल्याणकारी मानता है। दिव्या की कला के प्रति भी उसका आदर भौतिक है। वह उससे कहता है, 'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।" मारिश का दर्शन साम्यवाद के कोरे आर्थिक बल पर न टिका होकर जीवन की भौतिकता और वास्तविकता के सत्य पर आधारित है। आध्यात्मिक मूल्यों से उसका उसे अधिकार नहीं।

मारिश अपने दर्शन में ब्रह्म और निर्वाण दोनों की अवज्ञा करता है। वह
द्ध भौतिक है।

ैद्धान्तिक स्थिरता

मारिश में सैद्धान्तिक स्थैर्य विद्यमान है। वह रूद्रधीर और गृगुसेन की तरह परिवर्तित होने वाला व्यक्ति नहीं। उसका जीवन उत्थान और पतन की घाटियों में से भी नहीं गुजरता है। अतः वह स्थिर है। उसके सिद्धान्त स्थिर हैं। वह चारवाक का अनुयायी है। वह न तो बौद्ध के निर्वाण में विश्वास रखता है, न कर्म फल को मानता है। वह परिवर्तन में जीवन की सत्ता और सत्य को पहचानने वाला व्यक्ति है।

संघ स्थविर ने भोगलिप्सा को मिथ्या प्रतीति के रूप में अंकित करने की आज्ञा दी। मारिश ने यह स्वीकार नहीं किया। मारिश दंड पाकर भी अपने सिद्धान्तों पर अटल रहा। यशपाल जी के शब्दों में—

"विचारक होने के नाते महापण्डित के स्थान में मारिश का निरादर न था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करने वाले सागल के धर्मज्ञ विप्र समाज द्वारा लांछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशिप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बताने वाले मारिश का भी स्थान था।"

मान्यता के विरुद्ध

मारिश का व्यक्ति समाज की मान्यताओं के विरुद्ध था। वह अन्ध-विश्वास और मिथ्या मान्यताओं के विरोध में हमेशा बोलता था। वह परलोक की कल्पना करने वाले को कहता है, "मूर्ख ! तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी दासता है। तू स्वामी के भोग के अधिकार
र करता है यही तेरी दासता का बन्धन है।"

।५।

जन साधारण में वर्ग चेतना, स्वतन्त्र भावना की फूँक भरता है।
है, "तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो। पूर्ण मनुष्य बनने

का प्रयत्न करो, निराशा दौर्बल्य से पशुत्व मत स्वीकार करो।" एक अन्य स्थान पर रत्नप्रभा से मारिश कहता है—

'जिस स्थूल, प्रत्यक्ष जगत और शरीर का अनुभव समस्त जन करता है उसे भ्रम मानना और जिस ब्रह्म और जीवात्मा की कल्पना केवल ब्रह्मवादी करता है उसे सत्य मानना क्या युक्तियुक्त और बुद्धिसंगत है ? देवी ! दूसरे के शब्द पर अन्धविश्वास करने की अपेक्षा अपनी अनुभूति और तर्क का आश्रय लो। यह जीवन ही सत्य है। यह संसार ही सत्य है, जो पाना है इसी जीवन में पाओ।" मारिश के ये विचार भौतिकवादी के विचार हैं।

इस प्रकार मारिश का जीवन-दर्शन गत्यात्मक और प्रेरक है। उसमें गति के साथ सत्य का अन्वेषण है। वह कम से कम जीवन में गतिशील रहने की प्रेरणा देता है। केवल ब्रह्म के नाम पर असमर्थता को जीवन की मृत्यु मानता है।

नारी के प्रति

नारी के प्रति मारिश का दृष्टिकोण उदार है, वेश्यावृत्ति को भी वह अस्वस्थकर मानता है। वह वेश्या के स्वतन्त्र जीवन की प्रशंसा करता है। वह कहता है कि कुलवधू एक व्यक्ति की भोग्या है, पर वेश्या सबकी। अपनी स्वतन्त्रता से उसे मिलता क्या है ? वह उसे केवल वासनापूर्ति का साधन मात्र समझता है।

लोकायत का प्रतिपादक

मारिश लोकायत का प्रतिपादक है। वह अमरता का विश्वासी नहीं है। वह मानता है—"सजीव गतिमान है और गति का अर्थ है एक समय और स्थान से दूसरे समय और स्थान में प्रवेश करना।" मारिश परिवर्तन को जीवन का मूल मानता है।

मारिश उपन्यास में सबसे अधिक शक्तिमान पात्र है। उसका चरित्र एक सुसंयोजित रेखा के अभाव में पूर्ण प्रभावशाली नहीं बन पाया।

सीरो

सीरो उपन्यास में एक ऐसी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है जो भारतीय परम्परा के विरुद्ध है, पर इस चरित्र का उभार भी आवश्यक था। यद्यपि सीरो और केलो पर यवन प्रथा की छाप लिए सीरो का साक्षात्कार पाठक से तब होता है जब वह घायल पृथुसेन की सेवा करती है। वह पृथुसेन की गम्भीरता और वीरता पर मुग्ध है।

विशेषताएँ

उसके चरित्र की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. सीरो का दृष्टिकोण भिन्न है। वह भौतिकवादी है।
२. वह स्वाभिमानी है, उसे अपने कुल का अभिमान है।
३ वह स्वच्छन्द प्रकृति की नारी है।
४. उसमें भारतीय आदर्श नहीं है।

सीरो का सम्पूर्ण चरित्र इन रूपों में देखा जा सकता है। वह पृथुसेन की एकछत्र महारानी बनी, पर उसने उस रूप को निभाया नहीं। वह सपत्नीत्व तो स्वीकार नहीं करती, पर बाद में जाकर स्वतन्त्र और उच्छृंखल हो जाती है। उसका मिथ्या स्वाभिमान उसको अत्यधिक उच्छृंखल बना देता है। उसका आदर्श यवन संस्कृति से प्रेरित है।

वह बहुपत्नीत्व की प्रथा को पसन्द नहीं करती। इसीलिए कहती है, "आर्यों में स्त्री भोग्या है।"

वासनात्मक

सीरो वासनारूपी रमणी है, उसमे पति की एकनिष्ठता का अभाव है, वह कहती है, "मैं तुम्हारी क्रीत दासी नहीं, केवल तुम्हारी अंग की सेवा के लिए दासी नहीं हूं।" सीरो के लिए यौन पवित्रता कोई महत्त्व नहीं रखती। लेखक के शब्दों में 'स्पर्श सुख उसके लिए युवापुरुषों की बलिष्ठ भुजाओं और लौहपूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था।' सीरो में आदर्श पत्नी के चरित्र

का अभाव है। यह सम्भवतः इसलिए कि लेखक एक पृथक् संस्कृति की हीनता हमारे सामने रखना चाहता है।

शोषण के विरुद्ध

सीरो की एक विशेषता यह है कि वह शोषण के विरुद्ध जी भर कर बोलती है। उसमें साहस की मात्रा कम नहीं। यदि उसकी विचारधारा इतनी भौतिक न होती तो उसका चरित्र दिव्या से अधिक प्रभावशाली हो सकता था।

रुद्रधीर

रुद्रधीर का चरित्र पुरुष पात्रों में महत्वपूर्ण हो जाता है। एक आधार पर वह प्रतिनायक का स्थान ग्रहण करता है। क्योंकि—

१. प्रेम के क्षेत्र में वह पृथुसेन और मारिश का प्रतिद्वन्द्वी है।

२. राजनीति के क्षेत्र में वह पृथुसेन का विरोधी है।

३. मानव के रूप में उसमें सहनशीलता और अत्याचार के प्रति विरोध की भावना है।

४, वह जातीय भावों की संकीर्णता का समर्थक है।

५. उसे अपने ब्राह्मणत्व का गर्व है।

रुद्रधीर इन सभी रूपों में हमारे सामने आता है। उसका चरित्र व्यापक रूप से अंकित नहीं किया गया। वह पाठकों की पूर्ण सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सका, पर वह अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करता है। दासों से साम्राज्य को छुड़ा लेता है। वह राजनीतिज्ञ के रूप में भी कुछ सफल अवश्य माना जायेगा।

रुद्रधीर के चरित्र में एक विशेषता यह है कि वह बन्धन को जीवन का बड़ा आधार मानता है। इसीलिए दिव्या को धन का आश्रय देता है।

रुद्रधीर कला प्रेमी नहीं है। वह कला के शाश्वत सौन्दर्य की कल्पना को स्वीकार नहीं करता। उसका मत है कि जीवन में सब कुछ भोग्य है।

रुद्रधीर के चरित्र के साथ भी लेखक ने एक अन्याय किया है और यह है कि उसे आवश्यक रूप से पर्दे के पीछे रखा है। उसके [illegible]

जग पाती। वह बहुत थोड़ी देर के लिए आता है और क्षणिक चित्र अंकित कर चला जाता है।

इस प्रकार 'दिव्या' के लेखक में चरित्र-चित्रण की कई दुर्बलताएँ मिलती हैं। फिर भी व्यक्तियों के अपार जमघट में लेखक ने कुछ चरित्रों की रेखाएँ स्पष्ट करने में प्रतिभा से कार्य लिया है। 'दिव्या' वास्तव में नायिका प्रधान उपन्यास है। अतः पुरुष पात्रों की रेखाएँ अधिक स्पष्ट नहीं हो पाईं। मारिश का पद ही नायकत्व के अनुरूप बैठता है।

प्रश्न ७—औपन्यासिक तत्वों के आधार पर दिव्या की आलोचना कीजिए।

आज जीवन जितना संघर्ष और तर्कमय है उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास के अतिरिक्त काव्य की और कोई भी विधा पूर्ण रूप से पूर्ण नहीं है। प्रेमचन्द के अनुसार "उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र मात्र है। मानव-चित्र पर प्रकाश डालना और रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

इसके अतिरिक्त डा० श्यामसुन्दर के अनुसार "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

इन परिभाषाओं को दृष्टि में रखकर जब विचार करते हैं तो स्पष्ट पता चलता है कि जीवन की समग्र अभिव्यक्ति केवल उपन्यास में ही अधिक हो सकती है, क्योंकि उपन्यासकार को स्वयं आलोचना का जो अधिकार रहता है उससे नाटककार भी वंचित है।

उपन्यास के तत्व

दिव्या इस रूप में परिभाषा के उपयुक्त उपन्यास है। इसमें लेखक ने दिव्या के माध्यम से जीवन की एक क्रमिक अभिव्यक्ति की है। उपन्यास के तत्व निर्धारित हैं—(१) कथावस्तु, (२) चरित्र, (३) कथोपकथन, वातावरण, (५) भाषा-शैली, (६) उद्देश्य।

ही तत्व हैं जिन पर आधारित किसी भी उपन्यास का भव्य प्रासाद

कहा किया जाता है। दिव्या इन सभी तत्वों के आधार पर खरा उतरता है और उसमें लेखक ने कलात्मक रूप से जीवन का स्पर्श किया है।

कथावस्तु

दिव्या की कथा एक कलाप्रेमी नवयुवती की कथा है जो अपने जीवन में अपने किये कुछ कर्मों के अनुसार उत्थान और पतन की रेखाएँ पार कर जीवन की एक मोड़ी पर पहुँचती है। दिव्या की सारी कथा पूर्ण और कथा के सभी आवश्यक तत्वों पर आधारित है। उसमें रोचकता, सम्भाव्यता आदि सभी गुण विद्यमान हैं। दिव्या की कथा आधिकारिक है और इस आधिकारिक कथा के प्रतिकूल रुद्रधीर की कथा को माना जा सकता है। वस्तुत दिव्या में इस प्रकार का विभाजन वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं है। मारिश की कथा को किसी भी रेखा में सीमित करना कठिन हो जाता है। वह थोड़ी देर के लिए मावर भी अन्त में फलभोक्ता होकर अपना सम्बन्ध आधिकारिक कथा से जोड़ लेता है। सीरो और प्रेस्थ की कथा को तथा रत्नप्रभा और मल्लिका की कथा को प्रासंगिक माना जा सकता है। कथा के विवेच्य रूप को देखकर दिव्या को घटनाप्रधान उपन्यास की श्रेणी में न रखकर चरित्रप्रधान उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि दिव्या में मानव-जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ भी कम नहीं है, फिर भी इसे समस्या प्रधान उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की केवल उन्हीं अनुभूतियों का संचय करे जो उसके मन्तव्य के लिए सहायक हो। इस धारणा के अनुसार यशपाल ने अपने प्रत्येक पात्र को यथास्थान ग्रहण किया है। 'कथा की प्रवाहित धारा का विचार न करते हुए प्रमुख रूप से उसे यथास्थान उभार दिया है। यशपाल ने दिव्या में कल्पना से ऐतिहासिक तथ्य को, मानव-जीवन को सत्य के रूप में परिवर्तित किया है।

यह निर्विवाद सत्य है कि दिव्या में सत्य और कल्पना का अनुपम सामंजस्य हो पाया है। कथा की गति इस प्रकार मोड़ी गई है कि उसमें इतिहास के सत्य के भँवर में पाठक बिल्कुल भी फँस नहीं पाता। दिव्या में आकस्मिक

घटनाओं का कोई विशेष संयोजन नहीं है। कुल मिलाकर कथावस्तु की दृष्टि से दिव्या सफल है।

चरित्र

उपन्यास का दूसरा प्रमुख रूप है चरित्र। चरित्र की महत्ता इस विषय में अधिक है कि उसी के द्वारा लेखक अपना मन्तव्य पाठक के हृदय तक पहुंचाता है। पात्रों की दृष्टि से दिव्या, पृथुसेन, मारिश आदि पात्र जीवन्त और गतिमान तथा विश्लेषण योग्य हैं। सभी में मानवीय जीवन की दृढ़ता और दुर्बलता विद्यमान है। पात्रों की स्थिति इतनी गतिमान है कि पाठक के मन पर कभी तो प्रभाव पड़ता है और कभी पात्र केवल अपना स्पर्शमात्र कर चला जाता है। मारिश थोड़े से स्थान पर आता है किन्तु प्रभावित कर जाता है। पृथुसेन जब कभी बोलता है तो उसकी वाणी में शक्ति होती है। यशपाल ने चरित्र-चित्रण में सफलता प्राप्त की है।

चरित्रांकन के आधार

सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

१. मनोवैज्ञानिक

२. व्यावहारिक

३. सैद्धातिक

इन तीनो दृष्टियों से यशपाल ने पात्रों को उभारा है। दिव्या का चरि मनोवैज्ञानिक अधिक है और पृथुसेन का व्यावहारिक तथा मारिश का सैद्धां तिक। यह वर्गीकरण इसलिए किया गया कि प्रत्येक पात्र के जीवन मे इ विषय की प्रधानता है। दिव्या का जीवन ऊहापोह में केवल एक तूलिका कं ति लेखक के मन्तव्य को साधता चलता है और सभी पात्र इस रूप मे किसं शेष कोटि मे आ सकते हैं। पात्रो की स्थिति मे संगठन और अन्विति का ध्यान रक्खा गया है। दिव्या के पात्रों और उनके चरित्र की एक विशेष स्था तब आती है जब पात्र के सामने स्थिति का सामना करने के अति- और कुछ नहीं होता। दिव्या पृथुसेन से बिना मिले ही कितनी यातना

[illegible] है। [illegible] मानसिक उथल-पुथल के कारण पृथुसेन युद्ध का [illegible] हो जाता है। ये दोनों परिवर्तन स्वाभाविक तो हैं ही, किन्तु इनकी [illegible] का अनुचित नहीं है। दोनों स्थिति में दिव्या या पृथुसेन [illegible] कर सकते हैं, पर यह [illegible] ने मनोवैज्ञानिक आधार पर की है पृथुसेन का बौद्ध होना भी मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से ठीक है। इसके अतिरिक्त अब वह [illegible] है। प्रेस्थ का चरित्र भी इसी प्रकार है। मारिश के चरित्र के [illegible] ऐसी [illegible] के दर्शन होते हैं। उसका चरित्र सैद्धान्तिक है। वह न तो परिस्थिति से बदलता है और न ही उसके सामने कोई ऐसी स्थिति आती है। अतः इस दृष्टि से भी हमारी दिव्या सफल कृति है।

कथोपकथन

उपन्यास में स्वयं विवेचना का अवसर अधिक होता है किन्तु जो उपन्यास किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और जिसमें विचार का पुट अधिक होता है। उसमें कथोपकथन की महत्ता हो जाती है। कथोपकथन की दृष्टि से दिव्या का भी महत्व है। समस्त उपन्यास में पात्रोचित संवाद की स्थिति है। दिव्या में कथोपकथन की कलात्मक सुन्दरता कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होती है। उनमें से प्रमुख निम्न हैं—

१. दिव्या और पृथुसेन का कथोपकथन।
२. दिव्या और मारिश का कथोपकथन।
३. दिव्या और प्रपितामह का संवाद।

सारे उपन्यास में उक्त कथोपकथन अधिक सवेदन है। इन्हीं में लेखक ने प्रत्येक पात्र की चरित्रगत विशेषताओं को उभारा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचारों को प्रतिपादित करता है। दिव्या के अपने विचार हैं, पृथुसेन और प्रेस्थ के अपने। प्रेस्थ में लालसा और संकुचित भाव के दर्शन होते हैं। दिव्या में नारीयोचित भावना का समावेश है।

मारिश कहता है—"भद्रे! दुःख और भ्रान्ति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्म प्रवचना मात्र है। जीवन की

प्रकृति प्रबल और असंदिग्ध सत्य है।"

इसके अतिरिक्त अवसरवादी प्रेष्य कहता है—"पुन अवसर शीघ्र गति से चला आ रहा है। उसे पकड़ने के लिए उत्साहित और सतर्क रहो।" उपन्यास में कई कथोपकथन ऐसे हैं जिनसे कथानक की गति की आशा होती है और पता भी चलता है कि कथानक किधर को मुड़ेगा।

इन्द्रधीर कहता है—"मित्र मनुष्य देवताओं की इच्छा का दास है। देवता अपने प्रयोजन के लिए मनुष्य की मति से परे काम करते हैं। शूद्र (पृथुसेन) के आदर के लिए ब्राह्मण (इन्द्रधीर) को निर्वासन का यह दण्ड मद्र की मुक्ति का सूत्र होगा।" इस प्रकार दिव्या के कथोपकथन उपन्यास की गति में सहायता पहुँचाते हैं उनका कार्य तीन प्रकार से चलता है—

१ पात्रों की मन स्थिति का वर्णन करते हैं।

२ उपन्यास को गति देते हैं।

३ विचारों का प्रतिपादन करते हैं।

अत कथोपकथन की दृष्टि से दिव्या मे पात्रोचित स्वाभाविकता और वैचित्र्य दोनों ही विद्यमान हैं। कहीं पर कथोपकथन लम्बे भी हो गये हैं पर अधिकाश आवश्यकतानुसार सक्षिप्त हैं।

देशकाल

किसी भी कृति मे वातावरण अथवा देशकाल का ध्यान अवश्य रखा जाता है। औचित्य की जितनी भी सीमाएँ हैं यह उनमें से एक मानी जाती है। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों मे इस तथ्य की पूर्ण रक्षा की है। यशपाल ने भी उपन्यास मे तत्कालीन ऐतिहासिक एव सास्कृतिक वातावरण की रक्षा करने का सफल प्रयास किया है।

कुछ असंगतियाँ

इतना होने पर भी महेन्द्र भटनागर ने कुछ असगतियों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया है। वे इस प्रकार हैं—

१. दिव्या की कथा ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से सम्बन्ध रखती है। घटना-चक्रो का प्रमुख केन्द्र सागल है। सागल मे गणतन्त्रात्मक व्यवस्था है। यह इतिहास सम्मत नही है। त्रिभुवनसिंह लिखते हैं—"जिस सामाजिक संघर्ष को दिव्या के अन्दर लेखक ने उभाड़कर रखना चाहा है। उसका चित्रण एकमात्र गणराज्य मे ही सम्भव था। क्योंकि राजतन्त्र शासन प्रणाली के भीतर बहुत सी ऐसी समस्याओं को उठाना सम्भव न था।" लेकिन इसके विरोध मे तर्क यह है कि स्वेच्छा से किसी युग विशेष की प्रणाली में इस प्रकार का परिवर्तन स्वेच्छाचार की सीमा का उल्लंघन है।

२ 'पृथुसेन और रुद्रधीर' के अन्तर्गत जिस नृत्य मे लड़कियाँ भी सम्मिलित की गई है वह आज के युगल नृत्य की छाया लिए है। इतिहास इस बात की भी स्वीकृति नही देता। कुल नारियों को इस नृत्य मे सम्मिलित करना आश्चर्यजनक है।

३ सारिका के मुख से 'न्याय्यात्पथ पद न विचलन्ति धीरा' यह श्लोक एक ओर तो अशुद्ध है, दूसरे इसकी रचना ईसा के बाद हुई अत उस काल का पात्र इसे कैसे कह सका ?

४ कुछ शब्दो का प्रचार यशपाल ने समय से पूर्व किया है। इस ओर भगवतशरण उपाध्याय ने प्रकाश डाला है।

इतनी असंगतियों के होते हुए भी जहाँ तक ऐतिहासिकता का प्रश्न है, यशपाल को दोषी ठहराया जा सकता है, किन्तु प्रतिपाद्य की दृष्टि से उपन्यास पूर्णत निर्दोष है। यह भी है कि यशपाल ने तत्कालीन समाज को बड़ी गहराई से देखा है। सभी त्रुटियो के होते हुए भी उन्होंने उस काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति पूर्णत स्पष्ट की है। देशकाल का व्यवहारिक पक्ष कुछ स्थल दुर्बल है पर उसका भावात्मक रूप सभी स्थलो मे सशक्त है।

भाषा शैली

भाषा शैली उपन्यास का एक अंग है और उसकी दृष्टि से भी विवेच्य

अपेक्षित है। महेन्द्र भटनागर के अनुसार यशपाल की भाषा शैली इस प्रकार है—'संस्कृत और पाली के शब्दों का प्रयोग विशेष चमत्कार उपस्थित करता है, पर इससे शैली जटिल नहीं हुई है। चित्रण में सांस्कृतिक गरिमा के साथ-साथ धारा प्रवाह का गुण भी विद्यमान है।" इसके अतिरिक्त जगह-जगह कलात्मक शैली ने विवरण में और आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। यथा—

(१) सम्पूर्ण सागल नगरी रात्रि में दीप-हीन प्रदेश की भाँति निष्प्रभ बनी रही।

(२) उस जन-प्रवाह में उत्सव का मण्डप, वर्षाकाल की बाढ़ से दूर तक फैले नदी-जल में शेष रह गये छोटे-से द्वीप के समान जान पड़ता था।

(३) अंशु का मस्तक ऐसे गूंज उठा, जैसे मृदंग पर सहसा पूरी थाप आ पड़ी हो।

(४) ऊँची लम्बी नाक के नीचे मूंछें दो बिच्छुओं के डंकों की भाँति गालों की ओर चढ़ी हुई, आदि।

इन सब पंक्तियों में लेखक की कलात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। शैली की दृष्टि से यशपाल ने वर्णनात्मकता को अधिक स्थान दिया है। शैली के तीन रूप दिखाई देते हैं—

१. वर्णनात्मकता (जहाँ लेखक सब वर्णन स्वयं करता है।)

२. कथोपकथन शैली—संवाद के रूप में (ऐसे स्थलों पर प्रभाव अधिक पड़ता है।

३. विवेच्य शैली—जब लेखक स्वयं या कोई पात्र किसी दार्शनिक बात पर विवेचना प्रस्तुत करता है।

दिव्या में कई स्थानों पर लेखक ने कलात्मकता का हनन कर नारी के अनुपेक्षित चित्रों को उभारा है—

"शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने अपने गूढ़ आलिंगन में
र अधिक समेट लिया। दिव्या के कंचुक में बँधे उरोज उसके हृदय की
न को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ आये थे—व्यग्र पृथुसेन के प्राण

ओठों पर आकर दिव्या के प्राणों के लिए विकल हो उठे। दिव्या के ओठों को पाकर वे उनसे पृथक् होना न चाहते थे। उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चंचल हो उठे।"

इस सम्पूर्ण चित्र में दीक्षीगत दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो वासना का उभार अधिक है। यशपाल की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वे मांसल चित्रों को नग्न बना देते हैं। वे मांसलता के बिना आलिंगन के अभाव में प्रणय चित्रों का अंकन नहीं कर पाते, फिर भी यशपाल एक कुशल कलाकार हैं। भाव और बौद्धिक विचारों को उन्होंने कुशलता से अपनी भाषा में सीमित किया है।

उद्देश्य

यशपाल इतिहास को विश्वास न मानकर उसे विश्लेषण की वस्तु मानते हैं। जीवन का सारा स्पन्दन परखने की शक्ति है। दिव्या के संदेश और उसके औचित्य के विषय में स्वयं लेखक कहता है—"दिव्या का संदेश यही समझा जा सकता है कि अपने अतीत के सामाजिक अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर हम जीवन के अन्तर विरोधों को दूर करने का यत्न करें। हमारे अतीत में हमने अपने विश्वासों और संस्कारों को किस प्रकार बदला है, श्रेणी संघर्ष किस प्रकार अदमनीय रूप से समाज की व्यवस्था में परिवर्तन करता आया है, किस प्रकार तर्क विश्वास पर विजय प्राप्त कर रहा है। नारी दमन में रहकर किस प्रकार अपनी भावनाओं को दबाये रही है।" सम्भवतः यही सब कुछ समझाने के लिए 'दिव्या' लिखी गई।

इस प्रकार औपन्यासिक तत्त्वों के आधार पर दिव्या को हम सभी रूपों में सफल मान सकते हैं।

प्रश्न ८—उपन्यासों के विभिन्न प्रकार बताते हुए 'दिव्या' की आलोचना कीजिए और यह बताइये कि आप 'दिव्या' को कौनसी कोटि में रखेंगे।

यद्यपि उपन्यास विधा की दृष्टि से गद्य का एक भाग है, पर उनके भी अनेक उपभेद हो गये हैं। इन उपभेदों का कारण है उपन्यास में निहित तत्व की प्रधानता और उद्दिष्ट विषय का विचार। इन दोनों कारणों से उपन्यास को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

१. तत्वों की प्रधानता के आधार पर—

(क) घटना प्रधान

(ख) चरित्र प्रधान

(ग) घटना चरित्र प्रधान

२. उद्दिष्ट विषय के आधार पर—

(क) ऐतिहासिक

(ख) समस्यामूलक

समस्यामूलक के भी दो भेद हो सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) सामाजिक समस्या

(ii) वैयक्तिक समस्या

३. प्रतिपाद्य शैली के आधार पर भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा सकता है—

(क) कथा के रूप में

(ख) आत्मकथा के रूप में

(ग) पत्रात्मक प्रणाली के रूप में

इस प्रकार कोई भी उपन्यास उपर्युक्त वर्गीकरण के बाहर नहीं रह सकता।

घटना प्रधान उपन्यास

'दिव्या' को हम घटना प्रधान उपन्यास नहीं कह सकते, क्योंकि 'दिव्या' में लेखक का दृष्टिकोण किसी विशेष घटना के वैचित्र्यमात्र का प्रदर्शन नहीं रहा है। आचार्य शुक्ल इन घटना प्रधान उपन्यासों के विषय में लिखते हैं—

"घटना-वैचित्र्यप्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे जासूसी और वैज्ञा-आविष्कारों का चमत्कार दिखाने वाले। इनमें साहित्य का गुण अत्यन्त

ल्प होता है। केवल इतना ही होता है कि ये कुतूहल जगाते हैं।"

इस प्रकार के उपन्यासों में घटना के आश्चर्य की ओर लेखक का ध्यान रहता है। उनमें घटना प्रधान होती है न कि पात्र की स्थिति। लेखक की दृष्टि वस्तुपरक रहती है, वह घटना के बाह्य रूप को ही अपना ध्येय समझने लगता है। कई प्रकार की चमत्कारपूर्ण घटनाएँ उपन्यास में अस्वाभाविकता का वातावरण तैयार कर देती हैं, कई पात्र असाधारण व्यापार करते हैं। उनके लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं है। पाठक की दृष्टि से इन उपन्यासों की एक ही उपयोगिता है कि ये पाठक की वृत्ति को अपने कुतूहल में फँसाये रखते हैं। रोमांचकारी घटनाओं में पाठक क्षण भर के लिए अपनत्व का समाहार कर देता है। ऐसा साहित्य उच्च कोटि का नहीं है। 'दिव्या' इन सभी दृष्टियों से इस दायरे में नहीं आती। वह केवल घटना पर खड़ा किया गया प्रासाद नहीं है। 'दिव्या' में जितनी भी घटनाएँ हैं वे सभी किसी न किसी वृत्ति के प्रदर्शन के लिए हैं। यद्यपि घटनाओं के कथास्थलों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। 'दिव्या' में इतना नहीं है कि सारे उपन्यास को घटना प्रधान उपन्यास कहा जा सके। 'दिव्या' में समस्या पर ही लेखक की दृष्टि गई है।

चरित्र प्रधान उपन्यास

कुछ उपन्यास चरित्र प्रधान होते हैं। जैसा इनके नाम से प्रतीत होता है, ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य पात्रों का चरित्रांकन करना होता है। इन उपन्यासों में सारे आकर्षण का केन्द्र पात्र और उसका चरित्र होता है। पात्रों के जीवन की समस्त गतिविधि उनका आचार, विचार और परस्पर का व्यवहार ही लेखक की विवेचना का केन्द्र हो जाता है। उपन्यास में अन्य तत्व गौण हो जाते हैं।

इस प्रकार के उपन्यासों में पाठक किसी निश्चित अन्त का अनुमान नहीं लगा सकता। इसके साथ यह भी विशेषता होती है कि कोई पूर्व कल्पित या सर्वोचित कथा भी नहीं होती। लेखक किसी पात्र विशेष के चित्रण के लिए कलम उठाता है और अपनी सारी शक्ति उसी के चित्रण में लगा देता है। वे

पात्र की स्थितियों पर निर्भर न रहकर स्वतन्त्र अस्तित्व वाले होते हैं। इन उपन्यासों के चरित्र का विकास ही सुखद होता है, कथा का नहीं।

उक्त ढंग के उपन्यासों को कुछ व्यक्ति श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ अच्छा नहीं मानते। प्रेमचन्द इन उपन्यासों को अच्छा नहीं मानते। उनके अनुसार चरित्र का विकास तो हो, पर वह प्रधान न बने, क्योंकि यदि चरित्र प्रधान बन जाता है तो लेखक किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

इस कसौटी पर जब 'दिव्या' की परख की जाती है तो यह पता चलता है कि 'दिव्या' चरित्र प्रधान उपन्यास नहीं है। 'दिव्या' का लेखक केवल दिव्या या किसी और पात्र का ही चित्रण नहीं करना चाहता, अपितु उसका मन्तव्य एक सुनिश्चित छाया में दिव्या के आधार पर जीवन का एक रूप प्रस्तुत करना है। 'दिव्या' में किसी चरित्र में अनावश्यक स्थिरता नहीं मिलती। उसमें गति और विकास विद्यमान है।

घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यास

इन उपन्यासों में घटना और चरित्र का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहता है। वस्तु और चरित्र-चित्रण एक दूसरे पर आधारित होते हैं। पात्रों की गतिविधि कथा का निर्माण करती हुई उसे विकास देती है और इसके विपरीत कथा की घटनाएँ पात्रों के क्रियाकलापों का निर्माण करती हैं।

ये उपन्यास घटना प्रधान उपन्यास से पूर्ण रूप से भिन्न होते हैं और नाम [illegible] इनका कोई भी सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। इनमें घटना और चरित्र के [illegible]ध्य मार्ग का चुनाव होता है। घटना प्रधान उपन्यास में कौतूहल, अस्वाभा-[illegible]विकता आदि का समावेश होता है। घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में ऐसी [illegible]कोई बात नहीं होती।

कुछ समीक्षकों के अनुसार चरित्र सम्बन्धी स्थिरता आवश्यक है। इसकी [illegible]आवश्यकता इसलिए है कि विभिन्न पात्रों की रीति नीति और चरित्रों में [illegible]न्तर का अध्ययन स्पष्ट रूप से हो सके। घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में [illegible] बात देखने को मिलती है। इसका उदाहरण भारित्य में है। प्रत्येक चरि-

मात चरित्र में भी कुछ स्थिरता होती है।

'दिव्या' को हम निरपेक्ष रूप से इस कोटि में भी नहीं रख सकते।

ऐतिहासिक उपन्यास

उद्दिष्ट विषय के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यासों में उपन्यासकार का दृष्टिकोण किसी देश के एक युग विशेष के प्रकाश में अपने विचार प्रकट करने का होता है। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की मौलिकता को भावात्मक रूप में चित्रित करता है। ऐतिहासिक उपन्यास में केवल घटित घटनाओं का चित्रण नहीं होता, अपितु जनश्रुति के आधार पर अनेक घटनाओं के बनने-बिगड़ने का मार्मिक चित्र होता है। इतिहास की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का उपन्यासकार के लिए विशेष महत्त्व नहीं होता। अप्रसिद्ध पात्र इतिहास में नहीं होते, पर ऐतिहासिक उपन्यास में होते हैं। उपन्यासकार को दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१. देशकाल या वातावरण
२. कल्पना का सयत प्रयोग

देशकाल उपन्यास रचना का प्रमुख अंग है। बिना इसकी पूर्णता के उपन्यास सफल नहीं माना जा सकता। काल विरुद्ध बातें पाठक स्वीकार नहीं कर सकता। कल्पना से भी ऐतिहासिक उपन्यासकार को सयत रूप में कार्य लेना पड़ता है। इस रूप में लेखक पूर्ण स्वतन्त्र नहीं।

'दिव्या' को इस कोटि में पूर्ण रूप से नहीं रखा जा सकता, क्योंकि 'दिव्या' का लेखक 'दिव्या' के काल की किसी सुनिश्चित बात पर नहीं टिक सका। वह स्वयं कहता है कि यह काल अन्धकार का काल था। उस पर लेखक ने केवल कुछ अध्ययन और कल्पना से सामाजिक चित्र का अंकन किया है, पर वृन्दावनलाल वर्मा जैसी गम्भीर ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में यशपाल की यह कृति ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं आ सकती।

समस्यामूलक

समस्यामूलक उपन्यास आधुनिक युग की देन है। इसमें निम्नलिखित बातें होती हैं—

१. कोई एक समस्या हो।

२. एक प्रधान समस्या के साथ अनेक समस्याओं का स्थान हो।

३. समस्या सामाजिक या वैयक्तिक हो।

४. प्रतिपाद्य विषय में चिन्तन की प्रधानता हो।

५. परिवर्तनशील हो और परम्परा विरोधी हो।

साधारण रूप में समस्या नाटक और उपन्यासों में सारी बातें मिल जाती हैं। इन समस्याओं का प्रवेश और समाधान ऐतिहासिक आधारों पर भी हो सकता है, पर समस्या जितनी आवश्यक है, उसका समाधान उतना आवश्यक नहीं। उपन्यासकार का ध्यान मूलवर्ती समस्या पर केन्द्रित रहता है। वह और उसके पात्र उसी में उलझते हैं। समस्यामूलक उपन्यासकार उपयोगितावादी दृष्टि अपनाता है। 'दिव्या' की परख करने से हम उसे समस्यामूलक उपन्यास पायेंगे। 'दिव्या' में नारी-जीवन की समस्या है जिसकी उपसमस्याएँ हैं—

(क) क्या नारी केवल भोग्या है ?

(ख) क्या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है ?

(ग) यदि नहीं तो क्यों नहीं ?

(घ) और यदि है तो कितना ?

'दिव्या' में समस्या है—जीवन के प्रति कौनसा दृष्टिकोण अपनाया जाए। इसमें लेखक मारिश के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार दिव्या में लेखक की दृष्टि मनोवैज्ञानिक परिवर्तन और उत्थान-पतन की ओर अधिक रही है। यशपाल नारी के दो चित्र देते हैं—एक में दिव्या का आदर्श चित्र है, दूसरी में सीरो का। समाज किसे पसन्द करेगा, यही प्रमुख समस्या है। अतः 'दिव्या' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर समस्यामूलक उपन्यास है।

कहीं-कहीं भाषा में विचारों की अभिव्यक्ति में भी क्लिष्टता है। जैसे—वृद्ध गणपति, महासेनापति, मिथोद्रस परिस्थिति की गुरुता अनुभव कर केन्द्रस के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए बद्ध परिकर हुए।"

बौद्धकालीन वस्त्र, आभूषण, पद आदि के नाम भी संस्कृतनिष्ठ हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दिव्या की भाषा उच्चस्तरीय संस्कृताच्छादित हिन्दी है। ऐसा लगता है कि मानो पात्र नहीं बोलते, लेखक अपनी इच्छानुसार उनसे असाधारण भाषा बुलवाता है। दिव्या की धात्री की भाषा देखिए—"हम लोगों को पान्थशाला पहुंचना है। परिजन प्रतीक्षा में उद्विग्न होंगे।"

कहीं-कहीं कथोपकथनों की भाषा अत्यन्त सरल और स्वाभाविक भी बन पड़ी है लेकिन ऐसे स्थल कम ही हैं, जैसे भावावेश में दिव्या कहती है—"निर्लज्ज, मर जा, तुझ मे तनिक भी शील नहीं"।

दिव्या के कथोपकथन सफल और सजीव हैं। स्थविर चीवुक और पृथुसेन का संवाद अवलोकनीय है—

"मन में कोई दुविधा है आयुष्मान ? कृपा हस्त उठाकर स्थविर ने सम्बोधन किया।"

"नहीं भन्ते। भन्ते के उपदेश से उपासक दुविधा से युक्त हुआ। नतमस्तक पृथुसेन ने निवेदन किया।"

"आयुष्मान कोई भय शेष है।"

"नहीं भन्ते।"

"आयुष्मान तुम्हारा कोई शत्रु है ?"

"भन्ते की दया से शत्रु रहित हुआ हूं।"

महान् विचारक चारवाक मारिश, धर्मस्थ, महाउपरिक रवि शर्मा आदि की भाषा मे गम्भीरता है और महाश्रेष्ठि प्रेस्थ की भाषा मे गुरु की गुरुता है तो उसकी बनिया वृति का परिचय भी। ऐसे स्थलों की भाषा पात्रोचित ही है।

सागल की गलियों में भटकने वाली वृद्धा की भाषा या भावावेश में छाया

से, "निर्लज्ज मर जा" कहने वाली दिव्या की भाषा कदाचित् असाधारण भाषा-प्रयोक्ता लेखक के बुद्धिवाद से मुक्त हो पात्र-परिस्थिति-सापेक्ष बन गई है। दूसरे शब्दों में यह भाषा पात्रों के जीवन और आत्मा की अभिव्यक्ति बन गई है, पर ऐसी भाषा सम्पूर्ण उपन्यास में दाल में नमक के बराबर है।

कहीं-कहीं मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है जैसे—"भूमि पर पाँव पटकना, नागिन की भाँति फुँकारना, पद से कुचलना, सिर थाम कर बैठ जाना, धरा जाना, शरीर का रक्त जम जाना, कान भरे जाना, मस्तिष्क चकराना, पग में काँटा से बैठ जाना आदि-आदि।"

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या दिव्या के लिए इस असाधारण भाषा का प्रयोग करना यशपालजी की विवशता थी अथवा यह उनका सचेष्ट आग्रह है? इसका उत्तर यही है कि दिव्या की असाधारण भाषा यशपालजी का सजग, सतर्क प्रयास है, सचेष्ट आग्रह है। उनकी अन्य रचनाओं में ऐसी भाषा नहीं मिलती। आधुनिक युग में लिखे गये अन्य बौद्धकालीन उपन्यासों जैसे, चीवर, अम्बपाली, वैशाली की नगरवधू, चित्रलेखा आदि में दिव्या जैसी भाषा नहीं है। बौद्धकालीन साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् और प्रणेता प्रसादजी की भाषा में भी साहित्यिकता है, गाम्भीर्य है, काव्यमय भावानुभूति का सरस समावेश है किन्तु यशपालजी की दिव्या की भाषा बौद्धिकता से बोझिल है। इस कारण भाषा के अपूर्व अलंकारों से उसका मूल सौन्दर्य कृत्रिम बन धूमिल पड़ गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के हृदय की कोमल सरस अनुभूति दुरूह भाषा-विधान के सख्त बंधन में कसी हुई है। भाषा की असाधारणता के कारण दिव्या उच्चस्तरीय हिन्दी का ज्ञान रखने वाले सुशिक्षित वर्ग-विशेष की रचना बन गई है। जन साधारण के सामान्य ज्ञान और सीमित शब्दकोष के लिए दिव्या की भाषा बुद्धि से परे है, लेकिन कथानक की धारावाहिकता, पात्रों के जीवन-संघर्ष और साहित्यिक शब्द-विधान की सतर्कता के कारण शिक्षित समाज के समक्ष दिव्या से रस-ग्रहण करने में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं

कहीं-कहीं भाषा में विचारों की अभिव्यक्ति में भी
द्ध गणपति, महासेनापति, मिथोद्रस परिस्थिति की गुरु
के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए बद्ध परिकर हुए

बौद्धकालीन वस्त्र, आभूषण, पद आदि के नाम भी
का तात्पर्य यह है कि दिव्या की भाषा उच्चस्तरीय संस्
ऐसा लगता है कि मानो पात्र नहीं बोलते, लेखक अप
असाधारण भाषा बुलवाता है। दिव्या को धात्री की भार
को पान्यशाला पहुंचना है। परिजन प्रतीक्षा में उद्विग्न

कहीं-कहीं कथोपकथनों की भाषा अत्यन्त सरल
पड़ी है लेकिन ऐसे स्थल कम ही हैं, जैसे भावावेश
"निर्लज्ज, मर जा, तुझ मे तनिक भी शील नही"।

दिव्या के कथोपकथन सफल और सजीव हैं। र
का संवाद अवलोकनीय है—

"मन मे कोई दुविधा है आयुष्मान ? कृपा हर
धन किया।"

"नही भन्ते। भन्ते के उपदेश से उपासक दु
पृथुसेन ने निवेदन किया।"

"आयुष्मान कोई भय शेष है।"

"नही भन्ते।"

"आयुष्मान तुम्हारा कोई शत्रु है ?"

"भन्ते की दया से शत्रु रहित हुआ हूँ

महान् विचारक चारवाक मारिश,
की भाषा मे गम्भीरता है और महाश्रे
तो उसकी बनिया
ही है।

साधारण जनता को शोषित और अन्याय-पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय कम्यूनिजम की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ। इस विचारधारा से मेरा सम्पर्क है। जनता में इस विचारधारा का स्पष्टीकरण और प्रचार मेरा ध्येय है।" उक्त दिव्या में इसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है।

नारी जीवन का व्यक्तिगत पारिवारिक और सामाजिक मूल्यांकन दिव्या की मूलभूत समस्या है, उसका स्वरूप-निर्धारण और दिग्दर्शन करना ही लेखक का चरम ध्येय है, पर दिव्या के नारी पात्रों में कोई भी पात्र के जीवन-दर्शन में हमें इस सनातन समस्या का समाधान नहीं मिलता। दिव्या केवल हमारी सहानुभूति पाने की अधिकारिणी है। देश की वर्तमान पीढ़ी में विवाह से पहले मातृत्व की अधिकारिणी बन बैठने वाली कुमारियों को वह सचेत करती है। किन्तु लौकिक भोगानन्द को ही सब कुछ समझने वाले चार्वाक मारिश को अपनाकर वह कोई प्रशंसनीय उद्देश्य हमारे सामने नहीं रख पाती।

एक पति पृथुसेन के होते हुए भी सीरो अन्य पुरुषों को स्वच्छन्दतापूर्वक भोगती है। अतः हम उसे नारीत्व का आदर्श नहीं मान सकते। उसके प्रति हमारे मन में प्रेम और श्रद्धा नहीं, अपितु घृणा के भाव पैदा होते हैं। कुल-माता और कुलमहादेवियाँ तथा जौना, धनुमित्रा, अमृता आदि केवल भोग्या हैं। दासियाँ तो बेचारी भोग-विलास और सुख-साधन की चलती-फिरती मशीनें हैं। जनपदकल्याणियाँ वेश्याएँ हैं। नृत्य-संगीतादि कलाओं की अधिष्ठातृ देवियाँ होने के कारण वे प्रशंसनीय अवश्य हैं पर वे जनसाधारण के लिए भविष्य के लिए—कोई संकेत नहीं दे पातीं। नारी-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से कुल माता और कुल वधुएँ भी केवल वंश-वृद्धि के लिए बच्चे पैदा करने की मशीनें ही हैं। इसीलिए पृथुसेन और रुद्रधीर का दृष्टिकोण नारी के रूप सौन्दर्य का उपभोग कर वासना की तृप्तिमात्र रह गया है। दिव्या का अन्ततः मारिश को आत्म-समर्पण भी इसी भाव से प्रेरित है। वेश्याएँ स्वतन्त्र नारियाँ थीं किन्तु कुलवधू सीरो तो नारी-स्वातन्त्र्य की दूषित विकृति है। पृथुसेन का भोगवाद भी हमारे मन में यही दूषित धारणा पैदा करता है।

आधुनिक युग के सभी ऐतिहासिक उपन्यासकार यदि सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं तो यशपाल जी ने 'दिव्या' में तत्कालीन '[illegible]' भाषा का प्रयोग कर एक मौलिकता स्थापित की है। भले ही यह मौलिकता, यह [illegible] बुद्धिवादी कसरत हो।

प्रश्न १०—'दिव्या' का प्रतिपाद्य' विषय पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

उपन्यासकार किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए उपन्यास की सृष्टि करता है। सृष्टि के सभी कार्य-कलाप सोद्देश्य होते हैं। साहित्य सृजना के पीछे भी सर्जक का एक न एक उद्देश्य छिपा रहता है। यदि लेखक अपने उद्देश्य को रोचकता के साथ अपनी रचना में यथातथ्य उतार देता है तो वह रचना सार्थक हो जाती है और लेखक एक सफल लेखक समझा जाता है।

अपनी सृजन प्रेरणा को साकार स्वरूप देना ही दिव्या के लेखक का अभिप्रेत उद्देश्य था, तदनुसार उन्होंने बौद्धकालीन पतनोन्मुख समाज का यथेष्ट विवरण दिव्या में सफलता से प्रस्तुत किया है। परिवर्तन के सत्य को उन्होंने इतिहास के तत्त्व के रूप में प्रमाणित किया है तथा तद्युगीन अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक क्षमता का विश्लेषण किया है। मनुष्य के विश्वास और विधान की सफलता का चित्रमय वर्णन अतीत की भूमि का सहारा लेकर किया है। निश्चय ही उन्हें अपने इन उद्देश्यों की प्राप्ति में अच्छी सफलता मिली है।

यशपाल ने अपने उपन्यासों की रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"उपन्यास लिखने में मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि मनुष्य समाज को परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है बल्कि वह अपनी विचारधारा का सृष्टा है।" समाज में अनेक नई घटनाएँ घटती हैं और इन घटनाओं से हमारी विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है। समाज के लिए अनुभव नई विचारधारा को जन्म देते हैं। यशपाल कम्यूनिज्म की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा में आस्था रखते हैं और इसी विचारधारा का प्रचार वे अपनी कृतियों के माध्यम से जनता में करते हैं। वे कहते हैं—"मैं सर्व-

यशपाल द्वारा 'दिव्या' में चित्रित सभी पुरुष और नारी पात्रों का घोर यथार्थवादी भोगवाद पशुता को भले ही तोष दे पर मनुष्यता के लिये तो यह घातक है। दिव्या की वेश्या बन स्वतन्त्र रहने की कामना कुछ अंशों में उसकी विवशता मानी जा सकती है, पर राज्य सीमान्तवादी वीरों की वेश्यावृत्ति के लिये क्या कहा जाय? यह दिव्या के पुरुष और नारी जीवन की सामान्य समस्याओं का चित्रण तो है, पर निदान नहीं मिलता। उसमें यथार्थता की सम्पन्नता है, धीरता और कुरूपता के साथ के युग में यथार्थवाद को अभी का ई अपनाने की चेतावनी ही प्रेरणा का अन्तरपरक स्रोत प्रतीत होती है। दिव्या में हम यह कह सकते हैं कि नारी केवल भोग्या नहीं है। व्यक्ति और समाज के जीवन में मनुष्य की समरसता को उसकी परम्परा के रूप में सुरक्षित रखने के लिए नारी का महत्वपूर्ण स्थान है। पुरुष और नारी का सम्बन्ध भोक्ता और भोग्या का नहीं अपितु एक दूसरे के समकक्ष और पूरक का है। ऐसी स्थिति में नारी की स्वतन्त्रता अनिवार्य है पर उसकी स्वच्छन्दता सर्वनाशक है। वेश्यावृत्ति सामाजिक जीवन का भीषण अभिशाप है और दास-दासी-प्रथा मनुष्य की पाशविक वृत्तियों की प्रतीक है। सामन्तवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। युग जीवन का यही यथार्थ हम दिव्या में पाते हैं। दिव्या के सारे पात्रों को हम आदि से अन्त तक यथार्थवाद में जकड़ा हुआ पाते हैं। लौकिक भोगानन्द के कारण वे पतन से महापतन के शिकार बनते हैं और भौतिकवादी अन्धदृष्टि के कारण उनकी आत्मा में कभी उत्कर्ष की भावना ही उत्पन्न नहीं होती। कोई भी अपनी संकुचित भौतिकता से ऊपर नहीं उठता। कोई भी एक पात्र नहीं है जो हमारे जीवन को उत्कर्ष की प्रेरणा दे, हमारे लिये अनुकरणीय आदर्श बनें। हमें भविष्य के लिये कुछ संकेत दें।

यशपाल ने अपनी 'दिव्या' में इस तथ्य का भी उद्घाटन किया है कि असन्तुष्ट लोगों को जबरदस्ती सैनिक बना लेने से किसी देश की रक्षा असम्भव होती है। ऐसे सैनिक तो दिव्या में वर्णित भृति-सैनिकों के समान

युद्ध में ऐसी ही शूरता दिखावेंगे कि वे सामन्तों के पीछे और दासों के आगे रहें। एक मद्रक यह कहता है कि भृति-सैनिक बनकर प्राण देने से तो यह अच्छा कि कठों के गण में पलायन कर जावें, जहाँ सामन्तों का राज्य न होकर सब मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं।

मार्क्सवाद मनुष्य मात्र की समता और समानाधिकारों का समर्थन करता है। समाज के शासक, पुरोहित, स्वामी वर्ग ने मिली-भगत से ऐसी नैतिक विचारधारा की सृष्टि की है जो केवल उनके स्वार्थों के लिए कवच का काम करती है। सेवक को डराने के लिए पुरोहित कहता है कि यदि कोई सेवक अपने स्वामी से विमुख होगा तो वह अपना परलोक बिगाड़ लेगा। अगले जन्म में वह श्वान का जन्म पाकर स्वामी का ऋण चुकावेगा। उपन्यासकार अपने पात्र मारिश से इस दृष्टिकोण की तीव्र भर्त्सना करवाता है। नीच कुल और उच्च कुल की धारणा पर तो दिव्या के प्रथम परिच्छेद में ही पृथुसेन के मुख से प्रहार करवाया जाता है कि किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर अधम कुल में परिगणित करने की धारणा—चाहे वह व्यक्ति, धन, बल और विद्या की दृष्टि से कितना ही सामर्थ्यवान क्यों न हो—द्विज कुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहंकारमात्र है। मारिश ब्राह्मणों को देवताओं का कुक्कुर कह कर उपहास करता है। दिव्या अपने अनुराग के कारण कुलीनता की दीवार को तोड़कर दास-पुत्र पृथुसेन से विवाह करने का निश्चय प्रकट करती है तथा अन्त में अपने सजातीय अभिजात वर्गीय रुद्रधीर के परिणय निवेदन को भी ठुकरा देती है तथा मूर्तिकार मारिश को जीवन-सहचर चुनती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि दिव्या में यशपाल जी ने यह दर्शाया है कि नीच कुल के व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए और न ही उसमें श्रद्धा रखना चाहिए। भोली-भाली दिव्या ने दास-कुलोत्पन्न पृथुसेन पर विश्वास किया तो अपनी अधोगति प्राप्त की। लेखक ने पृथुसेन का चित्रण दिव्या के प्रति अन्यायी और विश्वासघाती के रूप में किया है। दिव्या को छोड़ सीरो को अपनाना उसकी घोर मतलब-परस्ती एवं मौका-परस्ती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यशपाल ने 'दिव्या' में मार्क्सवादी विचारधारा

का प्रतिपादन किया है। उनके चारवाक मारिश का चरित्र आदि से अन्त तक मार्क्सवादी दृष्टिकोण का सिद्धान्त-पक्ष है और दिव्या का चरित्र उसका कर्तव्य-पक्ष—मारिश उसका प्रतिपादन करता है तो दिव्या तदनुकूल आचरण करती है। अतः 'दिव्या' का मूल प्रतिपाद्य बड़ी ही कलात्मक ढंग से मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार-प्रचार है तथा उसके प्रति जनसाधारण की सहानुभूति अर्जित करना है।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का मत है कि 'दिव्या' में घोर भौतिकवाद पर गांधीवाद की विजय दिखाई गई है। अन्त में पृथुसेन का भिक्षु बन जाना, रुद्रधीर द्वारा उसको क्षमादान देना, बौद्ध-भिक्षु होने के कारण पृथुसेन को अदण्डनीय और अवध्य मानना गांधीवाद की सफलता है।

कुछ भी हो 'दिव्या' एक मौलिक कृति है जो लेखक की भावनाओं के सर्वथा अनुरूप है और हिन्दी-साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

प्रश्न ११. ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा मे 'दिव्या' का स्थान निर्धारित कीजिए।

हिन्दी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार होने का गौरव श्री किशोरीलाल गोस्वामी को प्राप्त है। आपका सन् १८६० में लिखित "लवंगलता" नामक उपन्यास हिन्दी का प्रथम मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त इन्होंने हृदयहारिणी, प्रणयिनी प्रणय, कुसुमकुमारी, राजकुमारी, कनक-कुसुम, लखनऊ की कब्र, सोना और सुगन्ध, लाल कुँवर, पन्ना, रजिया, इन्दुमती, मल्लिका देवी, तारा और राजसिंह आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनके उपन्यास घटना-प्रधान अधिक हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान कम रखा गया है, गोस्वामी जी के समकालीन ऐतिहासिक उपन्यासकारों में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त और बाबू जयरामदास गुप्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुप्त ने नूरजहां, कुँवरसिंह, वीर पत्नी, पूजा में हलचल, वीर और हम्मीर आदि उपन्यास लिखे। बाबू जयरामदास गुप्त ने रंग में

द्वारा लिखित इरावती, सामन्त चौनगुप्त तथा भूमि और सत्येन आदि ऐतिहा-सिक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

यशपाल ने भी दिव्या और अमिता नामक दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। दिव्या उपन्यास की घटना ऐतिहासिक नहीं है लेकिन पात्र ऐतिहासिक हैं। इसे काल्पनिक ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। यशपाल ने स्वयं ही कृति की भूमिका में स्पष्ट किया है—"दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज-प्रवृत्ति और गति का चित्र है।"

दिव्या के पात्रों का जैसे मिलिन्द, केन्द्रस, पुष्यमित्र आदि का इतिहास में कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। दिव्या, पृथुसेन, रुद्रधीर और मारिश का इति-हास में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इसमें बौद्धकालीन सभ्यता और संस्कृति—तत्कालीन पर्व-त्योहार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान, उपाधियों, राज्यों और पात्रों के नाम, शिष्टाचार के नियम आदि का विश्वस-नीय चित्रण मिलता है। इस उपन्यास की भाषा-शैली में भी प्राचीन शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। अतः हिन्दी-साहित्य में यशपाल का दिव्या शीर्षक उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यास है।

०

कुछ प्रमुख स्थलों की व्याख्या

(१) मनुष्य-समाज............के समान थे ।

सागल के इतिहास मे होने वाले परिवर्तनो और उन परिवर्तनो के बीच भी धर्मस्थ देवशर्मा के अविचल रहने का कारण बताता हुआ लेखक कहता है—

नदी-तट पर स्थित वन-प्रदेश प्रतिवर्ष नदी मे आने वाली बाढ के जल से आप्लावित होता है । नदी का जल एवं उसकी तलहटी की मिट्टी तटवर्ती वन-प्रदेश की भूमि को उर्वर बनाती है । उसमे प्रतिवर्ष परिवर्तन होता है । उसी प्रकार सागल मे ऐतिहासिक घटनाएँ घटित होती रहती थी । राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन होते रहते थे । युद्धो एव व्यापार के कारण विभिन्न संस्कृतियो के सम्पर्क मे आने के परिणामस्वरूप सागल की संस्कृति समृद्ध होती गई । नई-नई भावनाओ और अनुभूतियो ने सागल के जन के दृष्टि-क्षितिज को विस्तीर्ण किया, उनके हृदय को गम्भीर बनाया और उनकी भावनाओ को उदार बनाया । जिस प्रकार दूर-दूर तक फैले विस्तीर्ण तटवर्ती वन-प्रदेश मे स्थित महान् विशालकाय वट वृक्ष जल-प्लावन से अलिप्त रहता है, बाढ का प्रकोप उसे तनिक भी विचलित नही करता, उसकी भूमिगत जडें अक्षुण्ण रहती हैं उसी प्रकार सागल का जन-समुदाय तो विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओ, राजनैतिक उथल-पुथल एव सांस्कृतिक परिवर्तनो से प्रभावित हुआ, परन्तु एक सौ बीस वर्षीय महापण्डित, धर्मस्थ देवशर्मा को वे परिवर्तन स्पर्श तक न कर पाए । वे जल में कमल के समान उन बाह्य प्रभावों से निर्लिप्त रहे । उनकी मान्यताएँ, भावनाएँ, विचारधारा, संस्कार, आचार-व्यवहार सभी ज्यों के त्यों बने रहे । उनकी आस्था पहले जैसी अडिग रही । वट-वृक्ष के समान वह अपने आश्रय मे अनेक समानधर्मा नागरिको को शरण देते रहे ।

विशेष—(क) यहाँ अलंकृत भाषा-शैली का प्रयोग है।

(ख) धर्मस्थ देवशर्मा के चरित्र एवं स्वभाव का परिचय मिलता है।

(२) कुत्ता कुत्ते को··············कुक्कुर है।

केन्द्रस के मद्र पर आक्रमण के समय बलपूर्वक युद्ध-कर वसूल किया जा रहा था। युवकों को सेना में भर्ती किया जा रहा था। राज-पुरुष जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी कर रहे थे। इतना ही नहीं, जो धन संग्राम-यज्ञ की बलि के रूप में वसूल किया जा रहा था-उसका केवल आधा भाग गण-कोष में जाता था। शेष राजपुरुष हजम कर जाते थे। राजपुरुषों के आतंक एवं अन्याय को लोग चुपचाप सह रहे थे। वे उनको प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। इसी पर मारिश टिप्पणी करता हुआ कहता है—

जिस प्रकार स्वामी के द्वार का रक्षक कुत्ता द्वार पर आने वाले अपने सजातीय अन्य कुत्ते को भौंककर या उनके पीछे दौड़कर और काटकर उसे द्वार से भगा देता है और स्वामी के धन, खाद्य पदार्थ आदि की रक्षा करता है, यही स्थिति साधारण जन की है। साधारण जन में से जो राजपुरुष नियुक्त हो जाते हैं, जिनकी कटि में राजपुरुष की मुद्रा का पट्टा बँध जाता है, वे अपने को अपने अन्य सजातीय भाइयों से भिन्न, ऊँचा और श्रेष्ठ समझने लगते हैं। अपने पद के अभिमान में वे भूल जाते हैं कि वे भी उन्हीं में से हैं जिनके प्रति वे अपना आतंक दिखाना चाहते हैं। जैसे कुत्ता कुत्ते को भूककर उस पर झपटता है, उसी प्रकार राजपुरुष अपने सम्बन्धियों को भूलकर साधारण जन पर अत्याचार करते हैं, स्वामी के लिए उनका हनन करते हैं। यह भूल जाते हैं कि स्वामी ही वास्तविक शत्रु है, दोनों को कष्ट देने का मूल कारण वही है। फिर धार्मिक-रीति-नीति की आलोचना करता हुआ मारिश कहता है कि ब्राह्मण भी एक प्रकार से देवता के द्वार के कुक्कुर हैं। वे जनता में अस्तित्व और उनके प्रति जन की आस्था बनाये रखने के लिए ही रक्षक का कार्य करते हैं। जिस प्रकार स्वामी को प्रसन्न करने के लिए द्वारपाल को दक्षिणा देकर प्रसन्न किया जाता है, उसी प्रकार देवता को प्रसन्न करने के लिए पहले ब्राह्मण को दान-दक्षिणा देकर प्रसन्न करना आवश्यक है।

विशेष—(क) भारवि की विचारधारा लेखक के धर्म एवं राजनीति सम्बन्धी विचारों का प्रतिनिधित्व करती है।

(ख) यहाँ जनता को सत्ताधीशों के विरुद्ध संगठित होने का संदेश भी है।

(१) अवसर शीघ्र गति·········· आवश्यक है।

केन्द्रस के पद पर आसीन के समय सब ओर अव्यवस्था, शैथिल्य, आशंका सन्देह और भय दिखाई देता था। मन्त्रि-परिषद् किंकर्तव्यविमूढ़ था। मगध के प्रतिष्ठित लोग षड्यन्त्रों में अथवा स्वार्थ-साधनों में लिप्त थे। उस स्थिति में पृथुसेन क्षुब्ध, निराश और अशान्त था। उसका पिता उसे यदा-कदा प्रोत्साहित करता, सान्त्वना देता और अवसर से लाभ उठाने का परामर्श देता। ऐसे ही एक अवसर पर पुत्र को समझाते हुए श्रेष्ठ कहता है—

कार्य करने का समय शीघ्रता से निकला जा रहा है। यदि अवसर पर काम न किया तो जीवन-भर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अतः समय रहते सतर्कता से काम करना चाहिए। सजग रहकर आने वाली आपदा से अपनी रक्षा करने के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए। असावधानी और आलस्य के कारण मनुष्य अपना ही नहीं अपने देश का भी अहित कर बैठता है। अतः समय और स्थिति को पहचान कर अवसर से लाभ उठाना चाहिए। यवन देश की उक्ति को दुहराता हुआ वह पृथुसेन को अवसर न जाने देने का परामर्श देता है। इस उक्ति के अनुसार अवसर के देवता का मुख घने कटक केशों में छिपा रहता है और उसे पहचानना कठिन होता है। जिस प्रकार आच्छन्न मुख को पहचानना दुष्कर है, उसी प्रकार चतुर बुद्धि एवं सूक्ष्म दृष्टि न होने पर अवसर को पहचानना और तदनुरूप कार्य करना कठिन है। इस अवसर रूपी देवता के सिर का पिछला भाग केशविहीन है, केवल अगले भाग पर ही केश हैं। जिस प्रकार ऐसे व्यक्ति को यदि कोई पकड़ना चाहे तो उसे अगले केशों से ही पकड़ा जा सकता है, पिछले केशहीन भाग पर हाथ डालने से कुछ हाथ नहीं आएगा, वह फिसल जायगा। इसी प्रकार अवसर को दूर से पहचानना आवश्यक है और यह कार्य वे ही कर सकते हैं जो दूरदर्शी हैं, चतुर और

. . . .

सावधान हैं और अवसर से लाभ उठाना जानते हैं। अवसर निकल जाने पर तो सभी जान जाते हैं कि अवसर था, उससे लाभ उठाया जा सकता था। बाद में वे पछताते भी हैं कि अवसर को क्यों निकल जाने दिया, उससे लाभ क्यों नहीं उठाया। परन्तु इस पश्चात्ताप से कुछ बनता नहीं, हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। बुद्धिमान और चतुर वे हैं जो अपनी दूरदर्शिता और सूक्ष्म दृष्टि से अवसर को पहचानें, सतर्क और सावधान रहें और ज्योंही अवसर आवे, उसका समुचित लाभ उठाकर तत्परतापूर्वक कार्य करें।

विशेष—(१) यहाँ पर श्रेष्ठ के चरित्र की विशेषताओं जैसे—विवेक, दूरदर्शिता, अवसर के अनुरूप कार्य करने की दक्षता आदि पर प्रकाश डाला गया है।

(ख) भाषा कथ्य के अनुरूप है।

(८) नाम बदलने………… वियोग व्याप्त था।

पुरोहित चक्रधर और उसकी पत्नी के अत्याचारों से दुःखी होकर दिव्या ने आत्म-हत्या का प्रयत्न किया, पर मथुरा की प्रसिद्ध नर्तकी रत्नप्रभा ने उसे यमुना के जल से निकाल उसे अपने यहाँ आश्रय दिया। वह शीघ्र ही दिव्या की नृत्य-कला से परिचित हो गई और उसने उसे समाज में भाग लेने के लिए सहमत कर लिया। उसका नाम भी बदल दिया। अब वह दिव्या से अंशुमाला बन गई।

अंशुमाला के रूप में उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। अब वह दासी न रहकर मथुरा नगरी की प्रसिद्ध कलाविद् नर्तकी हो गई। अतः द्रव्य, सम्मान और कीर्ति उसके चरणों में लोटने लगे। अब उसके जीवन में द्रव्य और विलास सहज ही समुपस्थित थे। उसका अधिकांश समय नृत्य और संगीत में बीतता था। फिर भी उसके मन को मृत पुत्र शाकुल की स्मृति क्षुब्ध किए रहती थी। पृथुसेन का विश्वासघात उसे कचोटता रहता था और उसका मन शोक की गहराइयों में डूबा रहता था। बाहर से प्रसन्न और उल्लसित होते हुए भी अन्तर में वह खिन्न और उदास थी। बाहर की चमक-दमक, विलास-वैभव आदर-सत्कार, उसे उसी प्रकार प्रभावित न कर पाए जिस प्रकार सरोवर का

पापों के फलस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं। परन्तु क्या जीवात्मा जैसी कोई चीज है भी ? मेरे अनुसार तो जीवात्मा भी कल्पना और अनुमान की वस्तु है। उसका अस्तित्व उसी प्रकार संदिग्ध है जैसे ईश्वर या स्वर्ग-लोक का। जीवात्मा कुछ नहीं, शरीर ही सब-कुछ है। मनुष्य इस शरीर के द्वारा विचार करता है, विविध अनुभव और अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। मनुष्य की विशेषता उसकी चिन्तन और अनुभवशक्ति है। इन शक्तियों का प्रयोग वह शरीर के माध्यम से ही कर पाता है। अतः शरीर ही महत्वपूर्ण है। आत्मा को न किसी ने जाना है और न देखा है। जैसे पुष्प स्थूल है और उसमें से निःसृत गंध सूक्ष्म, जैसे तेल और बत्ती से बना दीपक स्थूल है और उसका प्रकाश सूक्ष्म, उसी प्रकार मानव-शरीर स्थूल है। चिन्तन, अनुभव, विचार-शक्ति और अनुभूति उसके सूक्ष्म प्रतिफल। जैसे पुष्प की अनुपस्थिति में सुगंध की कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे दीपक के न होने पर प्रकाश पाना असम्भव है, उसी प्रकार स्थूल शरीर के न होने पर उसके सूक्ष्म अस्तित्व आत्मा की कल्पना करना निराधार है। प्रकाश के लिए जिस प्रकार दीपक या सूर्य का अस्तित्व अनिवार्य है, उसी प्रकार यदि हम मानव में विचार-शक्ति और अनुभव की कल्पना करते हैं तो उसके शरीर का अस्तित्व भी हमें स्वीकार करना होगा। जीव से पृथक् आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं। अतः मृत्यु के बाद भी आत्मा अमर होने के कारण बनी रहती है, वह दूसरी देह धारण कर जगत में जन्म लेती है या स्वर्ग में जाती है—ये सब कल्पनाएँ मिथ्या हैं, निराधार हैं। इस पचड़े में पड़ना मूर्खता है। इसी जगत् और शरीर को सच्चा मानकर मनुष्य को साधन रहते सुखोपभोग का प्रयास करना चाहिए। परलोक की कल्पना में इस जीवन को कष्टमय बनाना मूर्खता है।

विशेष—(क) यहाँ गारिश के माध्यम से लेखक अपने विचार प्रकट करता है।

(ख) यहाँ अभिव्यक्ति अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली बन गई है।

( ) अंशु सहिष्णुता··· ·······व्यर्थता खोभता था।

दिव्या कष्ट सहते-सहते जड़ हो गई थी। वह विगत जीवन की कटु, वीभत्स और दारुण स्मृतियों में लीन सुख-दु:ख की समस्या पर प्रायः सोचती और

लेते गये। वह उसे पत्नी के रूप में अपनाने के लिए भी प्रस्तुत था। उसके प्रस्ताव पर पर्याप्त मनन करने के उपरान्त भी दिव्या पुन जीवन में प्रवेश करने में संकोच अनुभव कर रही थी। विगत जीवन की कटु स्मृतियों ने उसे जड़ बना दिया था। ऐसी ही अन्त संघर्ष की मन स्थिति में एक दिन मारिश दिव्या के कक्ष में जा पहुँचा। वहाँ असुविधा अनुभव कर दिव्या ने मारिश को उद्यान में चलने के लिए कहा और स्वयं भी शीघ्र ही वहाँ जा पहुँची। मौलश्री के नीचे शिलापीठ पर बैठे दोनों में पुन बातचीत आरम्भ हुई और मारिश के प्रश्न करने पर दिव्या ने भाग्य की दुहाई देते हुए मारिश का विवाह-प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। इस पर मारिश कहता है—

मनुष्य का स्वभाव है कि वह जीवन-पर्यन्त काम्य वस्तुओं को पाने के लिए प्रयत्न करता है, वर्तमान से अधिक सत्ताधारी बनने की चेष्टा करता है, अमंगल से मंगल, असद् से सद् तथा तमस् से ज्योति की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। यह उसका स्वभाव ही नहीं, धर्म भी है। मानव, मानव इसीलिए है कि वह सतत प्रयत्नशील रहता है। अत यदि प्रयत्न असफल भी हो जाय, एक योजना वांछित न भी हो सके, तो भी मनुष्य को निराश हो कर्म-विरत नहीं होना चाहिए। एक प्रयत्न की असफलता से यह निष्कर्ष निकालना कि अब वह कभी सफल नहीं होगा, मूर्खता है, कायरता है। जीवन अनन्त है, अत मनुष्य के प्रयत्न भी अनन्त होने चाहिए। जीवन में एक नहीं अनेक अवसर आते हैं, मनुष्य को उनसे लाभ उठाना चाहिए, एक बार की असफलता से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रयत्न और चेष्टा करनी चाहिए। घोर से घोर संकट, बड़ी से बड़ी निराशा के क्षण में भी उसे स्वयं को पंगु, असमर्थ एवं क्षीण-बल नहीं समझना चाहिए। यदि कोई स्वयं को असमर्थ मानने लगेगा तो वह प्रयत्न करना छोड़ देगा और प्रयत्नहीन हो जाने का अर्थ है जीवन से विरक्त हो जाना। यह स्थिति कदापि काम्य नहीं। इससे जीवन जड़ हो जाता है, प्रगति का मार्ग रुक जाता है और मानव-संस्कृति का रथ अवरुद्ध हो जाता है। अत मानव-प्रगति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि हम निरन्तर प्रयासशील रहें।

विशेष—(१) गीता के कर्मयोग के संदेश के सदृश यहाँ भी कर्म की प्रेरणा दी गई है।

(२) अंग्रेजी और हिन्दी-साहित्य में ही नहीं अन्य भाषाओं के साहित्य में भी निराश न होकर कर्म करने, बार-बार प्रयत्न करने का संदेश दिया गया है।

(६) *आश्रय की आशा और संकेत··········किया।*

रत्नमाला के प्रासाद में मारिश ने दिव्या के सम्मुख, विवाह का प्रस्ताव रखा। बार-बार अस्वीकार करने पर भी दिव्या स्वयं को, उसके विषय में सोचने से न रोक सकी। एक दिन रात्रि के दूसरे पहर तक विचार-विमर्श करने के उपरान्त जब मारिश विदा हुआ तो दिव्या अपने कक्ष में लौट आई। प्रयत्न करने पर भी उसे नींद न आई और वह मारिश के विवाह-प्रस्ताव के सम्बन्ध में सोचती रही—

जब वह सोचती कि तनिक-सा संकेत पाने पर मारिश उसे पत्नी रूप में ग्रहण कर लेगा, उसके अनिश्चित जीवन का अन्त हो जायगा और वह सुगृहिणी का जीवन बिता सकेगी, तो उसका मन नाना रम्य कल्पनाओं में डूबने-उतराने लगता। आश्रय की कल्पना से ही असीम उल्लास उमड़ने लगता। भविष्य के स्वर्णिम दिनों एवं मधुमयी रातों की मधुर कल्पना उसे हर्ष-विभिल बना देती; कल्पना करते-करते, मधुर स्वप्न देखते-देखते उसके नेत्र हर्षातिरेक के कारण मुँदने लगते। वह कल्पना करती कि मारिश की पुष्ट भुजाओं और लोमपूर्ण कठोर वक्षस्थल का आश्रय पा वह उसके प्रति पूर्ण समर्पित हो जाएगी, उसकी छाया में उसका शेष जीवन सुखमय एवं निश्चिन्त बीतेगा। यह विचार उसे प्रेरित करता कि वह मारिश के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले, अपने नारी-जीवन को सफल बना ले। नारी अपने नारीत्व की सफलता इसी में मानती है कि वह किसी पुरुष को अपनी ओर भुका सके, अपने रूप-यौवन से उसे आकृष्ट कर अपना याचक बनाए। पुरुष का स्त्री के प्रति आकृष्ट होकर उसके पाणिग्रहण की याचना करना ही स्त्री की सबसे बड़ी विजय है। मारिश का विवाह-प्रस्ताव सुनकर दिव्या को लगा कि

इसमे उसके नारीत्व की विजय हुई है और वह उस विजय के उल्लास में कुछ समय तक मग्न भी रहती। उसके हृदय में विचार आता कि क्यों न उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लूँ? क्यों न अपने नारीत्व को सफल बना लूँ? क्यों न विरक्ति त्याग सांसारिक जीवन बिताने लगूँ? क्यों न घर बसाकर, मारिश को पति रूप में प्राप्त कर, अपना और उसका जीवन सुखी बनाऊँ? ऐसा करने में दो लाभ होंगे—प्रथम तो वह स्वयं उस वैराग्यपूर्ण, कुण्ठाग्रस्त जीवन की यन्त्रणा से मुक्त हो जायगी जो उन दिनों उसे बिताना पड़ रहा था। दूसरे, वह मारिश के एकाकी, उदास जीवन को भी सुखोल्लास से भर सकेगी। इस प्रकार कई बार वह मारिश के प्रस्ताव को स्वीकार करने का विचार करती परन्तु अन्तिम निर्णय न कर पाती। इस द्विविधा एवं अन्तः-संघर्ष के कारण कभी कभी बहुत उदास हो जाती और उसका मन रोने को होता।

विशेष—(९) नारी-मन का सुन्दर विश्लेषण है।

(१०) कल्याणी, अनेक परस्पर-विरोधों · आश्रय भी है।

जीवन के प्रति अनुमाला को अनुरक्त करने के लिए मारिश विभिन्न तर्क प्रस्तुत करता है। उसका एक तर्क है कि नारी सृष्टि का साधन है, उसकी सार्थकता सन्तान को जन्म देकर मानव-जाति को अक्षुण्ण बनाए रखने में ही है। अनुमाला मारिश के इस तर्क को स्वीकार करते हुए भी उसकी बात का प्रतिवाद करते हुए कहती है कि नारी उस सार्थकता को तभी पा सकती है जब वह स्वयं को पुरुष के चरणों में समर्पित कर आत्म-दान कर दे, पुरुष की भोग्या बन जाए और भोग्य बनकर कोई अपना जीवन सार्थक नहीं कर सकता। अनु के इस प्रबल तर्क से मारिश कुछ क्षण के लिए हतबुद्धि हो गया, पर थोड़ी देर विचार-मग्न रहकर उसने उत्तर दिया—

यह जीवन विरोधमय है। यहाँ अनेक परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं। देखने में उनमें विरोध प्रतीत होता है पर यदि गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाय तो यह विरोध नहीं रहता। नारी और पुरुष के बीच भी यह विरोधाभास विद्यमान है। पुरुष का नारी के प्रति सहज आकर्षण होता है। वह उसे

असीम अनुराग से प्लावित करना चाहता है, वह उसके प्रणय की शीतल छाया में आश्रय खोजता है और पाता भी है, पर इसके लिए वह उसे अपनी, अपनी बनाना चाहता है। वह चाहता है कि स्त्री सम्पूर्ण रूप से उसकी, उसी की हो। अत. वह उसे आत्म-निर्भर नहीं होने देना चाहता। उसे भय रहता है कि आत्म निर्भर होकर कहीं वह उसे त्याग न दे, कहीं वह उसके आश्रय से वंचित न हो जाय। इसी भय से वह नारी को स्वाधीन होने देता, उसे अपने अधीन रखने का प्रयास करता है। पर इसके स्वामित्व या अधिकार की भावना का कम, आश्रय से वंचित हो जाने भय अधिक है। कुछ लोगों का मत है कि प्रकृति ने नारी को दुर्बल बनाया और पुरुष को सबल, सशक्त, इसीलिए पुरुष तो भोक्ता और स्त्री भोग्या पर मारिल के मतानुसार यह ठीक नहीं। उसकी दृष्टि में यदि आज भोग्या है तो उसका कारण प्रकृति का विधान नहीं, समाज के परम्परा नियम हैं। वस्तुत प्रकृति ने तो पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे का आश्रित बनाया है। एक का कार्य दूसरे के बिना नहीं चल सकता। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रकृति ही नहीं समाज की व्यवस्था में भी वे अन्योन्याश्रय हैं; गृहस्थी की गाड़ी के दो पहिए हैं। एक के भी टूटने या न रहने पर यह गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती। यह सच है कि प्राय हम स्त्री को पुरुष के आश्रित, अधीन और परवश पाते हैं परन्तु पुरुष का यह आश्रय नारी के लिए आवश्यक [illegible] उसका जीवन सार्थक नहीं। साथ ही यह भी उतना ही सत्य कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है, पुरुष के लिए भी नारी का आश्रय उसके प्रणय की शीतल छाया उतनी ही आवश्यक है जितनी नारी को पुरुष [illegible] दोनों में से कोई श्रेष्ठ या हीन नहीं, वे एक-दूसरे के पूरक अन्योन्याश्रित हैं।

[illegible]—(१) नारी-सम्बन्धी विचार भारतीय परम्परा के अनुरूप हैं यहाँ लेखक मार्क्सवादी प्रतीत नहीं होता। पुरुष के अधिकार का समर्थन उसे परम्परावादी विचारधारा के निकट ला बिठाता है।